

MATRICULATION HINDI SELECTIONS

REVISED EDITION
(Reprint)

UNIVERSITY OF CALCUTTA
1946

Rs. 2

MATRICULATION HINDI SELECTIONS

-
REVISED EDITION

(Reprint)

UNIVERSITY OF CALCUTTA
1946

PRINTED IN INDIA

PRINTED AND PUBLISHED BY DINABANDHU GANGULI B.A.
SUPERINTENDENT, CALCUTTA UNIVERSITY PRESS
48, HAZRA ROAD, BALLYGUNGE, CALCUTTA

1584 B.T —January, 1946 —A

सूचीपत्र

गद्यांश

पृष्ठ

१। ✓ महारानी दमयन्ती—राजा शिवप्रसाद ✓	...	1
२। प्रीति—पं० बालकृष्ण भट्ट	...	12
। ✓ अंधेर-नगरी—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ✓	...	15
४। ✓ क्षमा—साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास ✓	...	31
५। भौषकी शरशय्या—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी	...	35
६। ✓ हिन्दी भाषा—बाबू बालमुकुन्द गुप्त	..	45
७। हिन्दी क्या है—बाबू राधाकृष्णदास	.	53
८। ✓ नाटक और उपन्यास—बाबू गोपालराम गहमरौ	.	58
९। ✓ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—बाबू श्यामसुन्दरदास	.	65
१०। ✓ भगवान् श्रीकृष्ण—पं० पद्मसिंह शर्मा	.	73
११। ✓ सज्जनताका दण्ड—श्रीप्रेमचन्द ✓	.	79
१२। ✓ सर आशुतोष मुखोपाध्याय—लाला शिवनारायण लाल	•	90
१३। सोज़न डल है—पं० रामनरेश त्रिपाठी		101
१४। अमर जीवन—श्रीसुदर्शन	...	110
१५। घोड़ेकी जीवनी—पारखेय वेचन शर्मा 'उग्र'	..	120
१६। रामायण (अयोध्याकाण्ड)के मुख्य पात्रोंपर धर्म-संकट और उनका निर्वाह—पं० बलभद्रप्रसाद मिश्र		131

सूचीपत्र

पद्यांश

	पृष्ठ
१। चेतावनो—कबीर माहव	1
२। उपदेश ..	6
३। काम ..	9
४। क्रोध ..	10
५। लोभ ..	10
६। मोह ..	11
७। अहङ्कार ..	12
८। ✓सूरदासके पद—सूरदास	12
९। ✓सुदामा-चरित—नरोत्तमदास ..	22
१०। ✓परशुराम-लक्ष्मण संवाद—तुलसीदास	28
११। विनय-पत्रिका—तुलसीदास ..	42
१२। ✓वृन्दके दोहे—वृन्द ..	50
१३। ✓नैति-सामयिक उपदेश (कुण्डलियां)—गिरिधर कविराय ..	55
१४। ✓मयंक-महिमा—पं० बटरीनारायण चौधरी ..	62
१५। ✓रंक-रोदन—पं० नाथूराम शंकर शर्मा ✓	64
१६। जगत सचाई सार—पं० श्रीधर पाठक	70
१७। ✓प्रिय प्रवास—पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय	75
१८। चांदनी—लाला भगवान दीन	86
१९। चमेली—पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी	87
२०। जयद्रथ वध—बाब मैथिलीशरण गुप्त ..	88
२१। ✓मातृभूमि—	101

सूचीपत्र

१७

पृष्ठ

२२ । ✓ अन्वेषण—पं० रामनरेश त्रिपाठी . .	107
२३ । घट—बाबू सियारामशरण गुप्त . .	110
२४ । उद्धार—पं० मुकुटधर पांडेय ...	111
२५ । अभिलाषा—श्रीमती तोरनदेवी शुक्ल .	112
२६ । ✓ आंसू—श्रीयुक्त मोहनलाल महतो .✓	113
२७ । ✓ मेरा नया बचपन—श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान	114
२८ । ✓ बालिका का परिचय— ” ...	118
२९ । ✓ हिमालय—बाबू रामधारी सिंह 'दिनकर'	120

MATRICULATION HINDI SELECTIONS

गद्यांश

महारानी दमयन्ती

[राजा शिवप्रसाद (संवत् १८८०-१८५२ वि०)—इन्होंने जिस समय (लगभग स० १८०२) हिन्दी गद्य लिखना आरम्भ किया. उस समय कचहरियोंकी भाषा उर्दू ही चुकी थी। ये चाहते थे कि लिपि नागरी हो और भाषा ऐसी चलती ठेठ हिन्दी हो जिसमें सर्वसाधारणके बोध प्रचलित अरबी फारसी शब्दोंका भी प्रयोग हो, जिससे उर्दू पढ़े लिखे लोग विरोध न करें और सर्वत्र हिन्दीका प्रचार हो—इसी उद्देश्यसे इन्होंने मिश्रित हिन्दी लिखना आरम्भ किया। इन्होंने सैकड़ों पाठ्यपुस्तकें लिखीं और लिखवायीं। प्रारम्भमें जो पुस्तकें लिखी वे थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल हिन्दीमें थीं। उनमें वह उर्दू पन नहीं भगा था जो उनकी पिछली किताबोंमें दिखाई पड़ता है।]

विदर्भराज भीमसेनके एक बेटी थी, जिसका नाम दमयन्ती था। वह अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी। उसके अनूप रूप गुणोंकी प्रशंसा दूर दूर तक फैल गई थी। जब वह व्याहने योग्य हुई, तब तत्कालीन राजाओंकी प्रथाके अनुसार उसके विवाहके लिये स्वयंवर रचा गया। स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये दूर दूरसे राजागण गये। जो राजा लोग स्वयंवरमें गये, उनमें निषध-देशाधिपति वीरसेनके पुत्र राजा नल भी थे। राजा नल अति

सुशील, धर्मात्मा एवं सर्वगुणसम्पन्न थे। जब जयमाल पहनाकर वर वरण करनेका समय उपस्थित हुआ, तब दमयन्तीने राजा नलके गुण और रूपपर मुग्ध होकर उनको वरण किया और राजा नलके साथ दमयन्तीका विवाह हो गया। बारह वर्ष तक वे दोनों बड़े आनन्दसे रहे। इस बीचमें उनके एक लड़का और एक लड़की हुई।

राजा नलको पांसेका खेल खेलनेका दुर्व्यसन था। दुर्व्यसन इसलिये कि इस खेलसे सदा लोगोंका अनिष्ट होता आया है। इसी खेलके कारण भारतका गौरव और राज्यश्री नष्ट हुई। कौरवों और पाण्डवोंके घोर और वीर-नाशकारी महायुद्धका मुख्य कारण यही था। जहां पांसे रहते हैं, वहांसे सुमति, स्नेह, प्रीति एवं सौजन्य स्वयं चल देते हैं। इसका प्रमाण राजा नलका वृत्तान्त है, जो आगे लिखा जाता है। राजा नलके एक भाई था, जिसका नाम पुष्कर था। उसीके साथ वे पांसेका खेल खेला करते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि धीरे धीरे दांव लगाते हुए राजा नल सारा राज्य हार गये। एक धोतीको छोड़ उनके पास कुछ भी न बचा। अब दमयन्तीको साथ ले घरसे निकले। दमयन्तीने बुद्धिमानीका कामकर लड़के लड़कीको पहिले ही अपने पिताके घर भेज दिया था। निष्ठुर-हृदय पुष्करने अपने राज्यमें यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो कोई राजा नलको अपने घरमें आश्रय देगा, उसे प्राणदंड दिया जायगा।

राजा नलको तीन दिन और तीन रात अन्न तो अन्न, जल तक बिना पिये ही व्यतीत करने पड़े। अन्तमें वे कन्द मूल

एवं फलोंसे अपना और रानीका पेट-भर दिन व्यतीत करने लगे। बनके संकटोंको देख राजा नलने दमयन्तीको समझा बुझाकर पिताके घर जाकर रहनेका आग्रह किया, क्योंकि दमयन्ती बड़ी सुकुमारी थी। किन्तु दमयन्तीने नलको ऐसे संकटमें छोड़कर स्वयं राजभवनोंमें रहना स्वीकार न किया और कहा—“प्राणनाथ। आपके सुखसे ऐसा कठोर वचन क्योंकर निकला ? आपका साथ छोड़कर पिताके घरमें रहनेसे क्या मैं अधिक सुखी हो सकती हूँ ? क्या खाना पीना आपके दर्शन-सुखसे बढ़कर है ? आप भले ही मेरा त्याग कर दें, पर मैं आपका पल्ला नहीं छोड़ सकती। यदि आप फिर कभी मुझसे ऐसा कठोर वचन कहेंगे, तो मैं अपने प्राण तज दूंगी।” इतना कह दमयन्ती एक पेड़के नीचे सो गई। किन्तु राजा नलको नींद न आई। वह अपनी उपस्थित दशा पर विचार करते हुए मन ही मनमें कहने लगे—“हा ! जो दमयन्ती राजभवनमें पुष्पशय्या पर पैर रखते भी शङ्कित होती थी, आज वही इस विकट बनके कंटकाकीर्ण दुर्गम पथों पर क्योंकर चल सकेगी ? मुझे अपनी चिंता नहीं ; किन्तु मुझसे दमयन्तीकी दुर्दशा नहीं देखी जायगी। दुःख इस बातका है कि यह मेरा साथ छोड़ना नहीं चाहती। एक उपाय है। यदि मैं इसे इसी प्रकार सोती छोड़कर चल दूँ तो यह किसी न-किसी प्रकार अपने पिताके घर पहुँच जायगी।” इसी प्रकार सोच राजा नल अपने जीको कड़ा कर और दमयन्तीको वहां छोड़, एक ओर चल दिये। किन्तु चलनेके पूर्व दमयन्तीकी आधी साड़ी फाड़कर अपनी कमरमें लपेट ली, क्योंकि वे अपनी धोती गंवा चुके थे। राजा

नलने चिड़िया पकड़नेके लिये उसपर अपनी धोती फेंकी थी, किन्तु चिड़िया उस धोतीको लिये हुए उड़ गई थी। राजा नल चल तो दिये, पर उनसे रहा न गया। उस समय अपने जीकी विकलता वही जानते थे। थोड़ी दूर जाकर वे दमयन्तीके देखनेको फिर लौट आये, किन्तु कुछ सोच समझकर वे वहांसे फिर चल दिये।

इस प्रकार जब राजा नल दूर निकल गये, तब दमयन्तीकी नौद टूटी। राजा नलको अपने पास न देख, दमयन्तीका हृदय वेगपूर्वक धड़कने लगा और वह सिर धुनकर विलाप करने लगी। उसके नेत्रोंसे अविराम आंसुओंकी धारा बह रही थी। बारम्बार मूर्छित हो भूमिपर गिरती थी और पुकार पुकारकर कहती थी—
“हे प्राणप्यारे, मैंने कौन सा अपराध किया था जो मुझे अकेली इस निर्जन बनमें छोड़कर आप चल दिये! क्या आप विवाहके समयकी प्रतिज्ञा भूल गये? उस समय क्या आपने नहीं कहा था कि जीते जी हम तुमसे अलग न होंगे? महाराज, बहुत हुआ, अब बिलम्ब न लगाइये। तुरन्त आकर इस अनाथाको सनाथा कीजिये।” दमयन्तीका करुण क्रन्दन सुन बनके जीव-जन्तु, चर-अचर तक विकल हुए।

जब राजा नल बहुत देर तक लौटकर न आये, तब उनके लौटनेकी आशा छोड़, दमयन्ती उठी और रोती बिलखती उस दुर्गम बनमें चारों ओर घूमने लगी। इतनेमें अचानक उसपर एक अजगरने आक्रमण किया और चाहा कि उसे निगल ले। किन्तु सौभाग्यवश दमयन्तीका चिल्लाना सुन एक बहेलियेने आकर दमयन्तीको उस विपत्तिसे उबारा और एक बाणसे अजगरका

काम तमाम कर दिया। अजगर यदि दमयन्तीको निगल जाता तो वह सारे सांसारिक कष्टोंसे कुटकारा पा जाती, (किन्तु अभी उसके भाग्यमें अनेक कष्ट भिलने बदे थे, सो कर्मकी गांठ इतनी जल्दी क्योंकर टूट सकती थी।) वह बहेलिया दमयन्तीके लिये उस अजगरसे कहीं बढ़कर कष्टदायी हुआ। तब अन्य उपाय न देख दमयन्तीने सर्वव्यापी एवं सर्वान्तर्यामी भगवान्को स्मरणकर प्रार्थना की। दमयन्ती आर्त्तस्वरसे कहने लगी—“हे दीनदयालु। हे अनार्थोंके नाथ। हे दयासिन्धु। हे अशरणशरण। हे वात्सल्यगुण-सागर। इस दुष्टके हाथसे मेरी रक्षा कीजिये।” भगवान् बड़े बड़े दान्ती एवं यज्ञ करनेवाले राजा महाराजाओंकी उपेक्षा भले ही कर डालें और उन्हें कर्मबंधनसे मुक्त न करें, किन्तु दयामय भगवान् भक्तोंके आर्तनादकी अवहेलना नहीं करते और भक्तोंके कर्मबंधन तुरंत काट देते हैं। (“अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्” का नियम भगवद्भक्तोंके लिये नहीं है। यह नियम उन लोगोंकी उन्नतिमें बाधक है, जो अपने पुरुषार्थपर निर्भर रहकर ज्ञान- अथवा कर्म-काण्ड द्वारा उसके समीप पहुँचनेका प्रयत्न किया करते हैं।) जैसे राजाके विशेष कृपापात्रोंके लिये कोई नियम नहीं है, वैसे ही उन भगवद्भक्तोंके लिये, जिनको दयामय भगवान्ने अपना लिया है, कोई नियम नहीं। दमयन्तीकी करुणा भरी प्रार्थना सुन, भगवान्का कोमल हृदय दयासे आर्द्र हो गया और उन्होंने दमयन्तीके उद्धारका उपाय भी तुरन्त ही रच दिया।

जब बहेलियेने देखा कि दमयन्ती मेरा कहना नहीं मानती, तब वह उसपर क्रुद्ध हुआ और दमयन्तीको मारनेके लिये उसने

बाण चलाया। पर वह बाण दमयन्तीके न लगा, उस पापी ही के लगा और वह जहांका तहां गिर गया और मर गया। तदनन्तर दमयन्ती हाथी, सिंह आदि बनैले हिंसक जन्तुओंसे अपने आपको बचाती और अनेक पहाड़ों तथा जङ्गलोंमें भटकती सुबाहु नगरमें पहुँची। वहां वह रानी के पास दासी बनकर समय व्यतीत करने लगी। संयोगवश उसे ढूँढ़ते हुए उसके पिताके भेजे ब्राह्मण सुबाहु नगरमें जा निकले और उसे विदर्भ नगरको लिवा ले गये। ✓

उधर राजा नल घूमते फिरते अयोध्या पहुँचे और अपना नाम बाहुक रख, वहांके राजा ऋतुपर्णके सारथी बनकर रहने लगे। विदर्भ-राजने राजा नलके ढूँढ़नेके लिये नगर नगर गांव गांव ब्राह्मण भेजे। उनमें से एक ब्राह्मणने अयोध्यासे लौटकर यह समाचार सुनाया कि राजा ऋतुपर्णका बाहुक नामक सारथी दमयन्तीका नाम सुनकर उदास हुआ और आंखोंमें आंसू भर लाया। बहुत पूछने पर भी उसने अपना विशेष परिचय नहीं दिया। यह सुनते ही दमयन्तीको निश्चय हो गया कि बाहुक बनकर राजा नल ही अयोध्यामें दिन काट रहे हैं। दमयन्तीने अपने पितासे कहकर राजा ऋतुपर्णके पास एक संदेशा भेजा। वह यह था कि अब राजा नलके आनेकी आशा जाती रही; अतः दमयन्ती दूसरा वर वरण करेगी और इसके लिये दूसरी स्वयंवर सभा होगी। उस सभामें आप भी पधारें।

किन्तु स्वयंवरका दिन इतना समीप नियत किया कि राजा नलको छोड़ कोई भी इतने समयमें घोड़े हांककर अयोध्यासे विदर्भ नगरमें नहीं पहुँच सकता था। राजा नल अश्व-सञ्चालन विद्यामें

बड़े निपुण थे। जब राजा ऋतुपर्णने यह संवाद सुना, तब उनको बड़ी चिन्ता हुई कि इतने थोड़े समयमें हम क्योंकर इतनी दूर पहुँच सकेंगे। यह बात सुनकर बाहुक नामधारी राजा नलने नम्रतापूर्वक कहा कि आप चिन्ता न करें। मैं निर्दिष्ट दिनसे पहले ही आपको विदर्भ नगरमें पहुँचा दूँगा।

अन्तमें बाहुकने जैसा कहा था, वैसा ही किया। निर्दिष्ट दिनके पूर्व ही राजा ऋतुपर्ण वहाँ पहुँच गये। राजा भीमसेनने अयोध्या-नरेशका बड़ा आगत स्वागत किया। किन्तु राजा ऋतुपर्ण वहाँ स्वयंवरकी तैयारियां न देख और दूसरे किसी राजाके वहाँ पहुँचनेकी सूचना न पा अत्यन्त विस्मित और लज्जित हुए। बाहुक रथको राजा भीमसेनकी अश्वशालामें खोलकर स्वयं एक चारपाईपर विश्राम करनेके लिये पड़ रहा। दमयन्तीने अयोध्या-नरेशके आगमनकी सूचना पाकर केशिनी नाम्नी अपनी एक चतुर सखीको राजा नलकी टोहमें अश्वशालाकी ओर भेजा। नलको खाटपर पड़ा देख केशिनीने उनसे कहा—दमयन्ती आपका कुशल संवाद पूछती है। नलने बात उडाकर कहा—मैं अयोध्या-नरेशका सारथी हूँ। बाहुक मेरा नाम है। राजा ऋतुपर्ण स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये यहाँ पधारे हैं। उन्हें लेकर मैं यहाँ आया हूँ। पर यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि राजा नलकी भार्या दमयन्ती पतिव्रता होकर परपुरुषके साथ विवाह करना चाहती है। क्यों न हो। (यह सब दिनोंका प्रभाव है। मनुष्यके खोटे दिनोंमें जब निज शरीर तक उसका साथ नहीं देता, तब स्त्री और संतानका कहना ही क्या है।) इसपर केशिनीने कहा—

“हे बाहुक! क्या तुम राजा नलका भी कुछ हाल जानते हो ?

ज़रा सोचो, राजा नलने दमयन्तीके साथ कैसा निष्ठुर व्यवहार किया ! उस सोती हुई अबलाको निर्जन बनमें अकेली छोड़ न जाने वे किधर चल दिये । दमयन्तीको देखो, वह कैसी भली है कि इसपर भी उसने कुछ ध्यान न दिया और वह अन्नजल छोड़कर सदा उनका नाम जपा करती है ।”

दमयन्तीका हाल सुन बाहुकसे न रहा गया और उसकी आंखोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगा । अन्तमें बाहुकने कहा—

स्त्री भले ही पति द्वारा सताई जाय, पर औरोंके सामने उसे पतिकी बुराई करना उचित नहीं । दमयन्तीको कदाचित् यह बात नहीं मालूम कि यदि राजा नल दमयन्तीको बनमें न छोड़ जाते, तो उनके प्राण बचना कठिन था । तिसपर भी यदि राजा नलसे निर्दयताका कोई काम बन भी पड़ा हो तो दमयन्तीकी शोभा इसीमें है कि वे उनका अपराध क्षमा करें; क्योंकि दुःख पड़ने पर मनुष्यकी बुद्धिका ठीक रहना कठिन है ।

यह कहकर राजा नल उदास हुए और रोने लगे । केशिनीने इसपर राजा नलसे कुछ भी न कहा और दमयन्तीसे जाकर सारा हाल कहा । सुनते ही दमयन्तीको निश्चय हो गया कि बाहुक ही राजा नल हैं । दमयन्तीने फिर केशिनीको राजा नलके पास भेजा: और इस बार उसके साथ अपना लड़का और लड़की भी कर दी । उन दोनोंको देख राजा नलके नेत्रोंमें आंसू भर आये और उन्हें छातीसे लगा वे बोले—“ऐसे ही बेटा-बेटी मेरे हैं; बहुत दिनोंसे मैंने उन्हें नहीं देखा । इन्हें देख आज मुझे अपनी सन्तानका स्मरण हो आया । इन्हें ले जा और माताके पास कर आ । आज ये नलके अनाथ लड़के कल किसी दूसरेके

कहलावेगी। स्त्रियां ही धन्य हैं जो एक पतिको छोड़कर दूसरा पति कर लेती हैं। कल मैं भी देखूंगा कि राजा नलकी पतिव्रता की दमयन्ती किसको वरण करती है।”

यह सुन केशिनी दमयन्तीके पास गई और जो देखा सुना था, सो उससे कहा। फिर वह बोली कि यह तो कोई विचित्र मनुष्य जान पड़ता है, क्योंकि रसोईका जितना सामान राजा ऋतुपर्णके लिये भेजा गया था, उसने बातकी बातमें सब बना डाला। यह सुन दमयन्तीने केशिनीको बाहुकके बनाये हुए सब सामानमेंसे थोड़ा थोड़ा ले आनेको फिर भेजा। केशिनी जाकर मांग लाई। उसे चखते ही दमयन्तीका रहा सहा सन्देह दूर हो गया, क्योंकि उन पदार्थोंमें वैसा ही स्वाद था, जैसा राजा नलके बनाये पदार्थोंमें होता था।

तदनन्तर दमयन्ती अपनी माताके पास गई और बोली—
“माताजी। यदि आज्ञा हो तो मैं अश्वशालामें जाकर उनसे मिल आऊँ।” माताने बेटीको तुरन्त आज्ञा दी। दमयन्ती तिसपर भी अकेली न गई और अपने साथ अपने बेटे बेटीको लेती गई। राजा नलको और उसके जर्जरित क्षीण कायको देख दमयन्ती रोने लगी। जब वह सावधान हुई, तब राजा नलसे बोली—
“प्राणनाथ। सुभ अबलाको आप बनमें अकेली छोड़कर क्यों चल दिये थे?” इस प्रश्नके उत्तरमें लज्जित हो राजा नलने कहा—

“क्या तुमको विश्वास है कि मैंने जान बूझकर तुम्हारा साथ छोड़ा? सच तो यह है कि जिस निर्बुद्धिता में पड़कर मैंने सारा राजपाट गंवाया, उसीके फेरमें पड़ तुम्हारा भी विछोह हुआ। तुम्हारे विछोहमें सुभपर जो बीती उसे मेरा यह शरीर ही जान

सकता है। किन्तु जो पतिव्रता होती हैं, वे अपने स्वामीमें अवगुण देखकर भी उसकी निन्दा नहीं करतीं। जाने भी दो; अब इन बातोंमें क्या रखा है, क्योंकि कल तो तुम दूसरेकी हो ही जाओगी।”

दमयन्तीने हाथ जोड़कर कहा—“आपको यहां बुलानेके लिये ही यह सारा जाल रचा गया था। क्या आपको विश्वास हो गया कि मैं दूसरेके साथ विवाह कर लूंगी? यदि ऐसा होता तो अकेले राजा ऋतुपर्ण ही को क्यों पत्र भेजा जाता? अन्य नरेश भी तो आज यहां आये होते। मैं तो अपनी मनमें ठान चुकी थी। यदि आज आपसे भेंट न हुई होती तो मैं जलती आग में कूदकर प्राण दे देती।”

इस प्रकार उन दोनोंमें बातें हो चुकनेपर दोनोंके मनका बोझ हलका हुआ और पूर्ववत् दोनों एक हुए। होते होते यह संवाद राजा भीमसेन और ऋतुपर्णने सुना। उनको इससे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। राजा नलसे मिलकर अयोध्या-नरेशने नम्रतापूर्वक कहा—“महाराज। मुझसे बड़ी चूक हुई। मैंने आपको नहीं पहचाना; इसलिये अनजाने आपको सारथीका काम सौंपा। आशा है, आप मुझे इस अपराधके लिये क्षमा करेंगे।”

यह कह राजा ऋतुपर्ण अपनी राजधानीको गए। भीमसेनने राजा नलसे कहा—“आप अपनी राजधानीमें न जाकर यहीं रहें और मेरा राज्य ले लें। “परन्तु राजा नलसे अपनी पद-मर्यादाको जाननेवाले पुरुष, ससुरालमें रहकर, क्यों समय बिताने लगे थे? यदि उनको ससुराल ही में रहना होता, तो वे दमयन्तीको छोड़ अयोध्यामें क्यों सारथी बनते? राजा भीमसेनने उन्हें इसपर एक

रथ, सोलह हाथी, ५०० घोड़े और ६०० प्यादे देकर विदा किया ; पर दमयन्तीको न जाने दिया और उसे उसके बच्चोंके सहित अपने पास ही रखा ।

राजा नलने अपनी राजधानीमें पहुँचकर पुष्करके साथ फिर चौपड़ खेली । खेलनेके पूर्व दोनोंमें यह प्रतिज्ञा हो गई थी कि जो हारेगा, वह जीतनेवालेका दास होकर रहेगा और जितनी सम्पत्ति उसके अधिकारमें होगी, वह जीतनेवालेको दे देगा । इस बार भगवान्की दयासे नल जीते और पुष्कर हारा । पुष्कर मारे डरके थर थर कांपने लगा । पर दयालु राजा नल इतने नहीं गिर गये थे कि भाईके अपकारका बदला अपकारसे देते । उन्होंने भाईसे कहा—“तुम डरो मत । मैं तुमसे अप्रसन्न नहीं हूँ । मैंने जो कुछ कष्ट भोगा, वह दिनोंके फेरसे, तुम्हारे कारण नहीं । तुम जैसे पहले काम करते थे, वैसे ही करते रहो ।” अनन्तर राजा नलने दमयन्तीको और अपने बेटे-बेटीको भी अपने पास बुलवा लिया और चिर काल तक आनन्द-पूर्वक राज्य करते रहे ।

प्रीति

[पंडित बालकृष्ण भट्ट (संवत् १९०१-१९७१ वि०)—“इन्होंने स० १९३३ में गद्य-साहित्यका ढर्रा निकालनेके लिये ही हिन्दी-प्रदीप निकाला था। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक सब प्रकारके छोटे छोटे गद्य प्रबन्ध थे अपने पत्रमें बत्तीस वर्ष तक निकालते रहे।”]

प्रीति एक ऐसी मनोवृत्ति है जो स्वभावतः विश्वासपरायणा सरला स्वच्छदर्शना क्रूरवृत्तिशून्या एवं कुसुम सट्टश कोमला और संसारकी सार वस्तु है किसी कारणसे वा स्वार्थसाधन निमित्त बहुधा इस संसारमें लोग प्रीतिबद्ध हो जाते हैं पर चन्द्र-ज्योत्स्ना सट्टश निर्मला और हृदयानन्ददायिनी जो प्रीति है वह बिना कारणके होती है जिसका नाम सच्ची प्रीति है। जो ऐसी प्रीतिके बन्धनसे बंधे हुए हैं वे कोटिहु यतन करनेसे पृथक् नहीं होते, सच्ची प्रीति इसे कहते हैं जैसा चन्द्र और चकोरमें, दीपशिखा और पतंगमें, नीर और क्षीरमें, चातक और मेघके बीच देखनेमें आती है। यह वह आकर्षण-शक्ति है जो न्यूटन महाशयके प्रकट किए बिना ही आप प्रगट हुई है। यह इसी आकर्षण-शक्तिका प्रभाव है कि कमल और कुमुदिनी दिनमणि और रजनीकान्तसे इतनी दूर भी रहकर उनके हृदयमें प्रफुल्लित हो सरोवरको नित्य नित्य सुशोभित करते हैं। प्रीतिरज्जुवत् बंधन वह अपूर्व बन्धन है कि भ्रमर काष्ठ-भेदनमें बड़ा चतुर भी होकर संध्यासमय सुकुलित कमलके भीतर प्रेमरज्जुवत् बन्धनसे जब बंध जाता है तब उसकी

कोई कला नहीं लहती कि वह फूल को छेदकर बाहर निकल आये।

श्लो०—“बन्धनानि किल सन्ति बह्वनि प्रेमरज्जुवत्तबन्धनमन्यत् ।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजबद्धः ॥”

यह वह इन्द्रजाल जानती है जिसके बलसे यह अनेक रूप धारण कर लेती है। कभी भक्तिके नामसे अत्यन्त विनम्रा मूर्ति धारणकर गुरुजनोंके पदारविन्द में प्रणत होती है, कभी वात्सल्य-रस पूर्ण हो अङ्गलालित शिशुजनोंके कोमलाङ्गके स्पर्शसुखका अनुभव करती है, कभी परकीय दुःख वा यन्त्रणा देख निरन्तर अश्रुपूर्ण हो नितान्त खिन्न हो जाती है। निःसन्देह यह हृदयवृत्ति है जो वर्षाकालीन वारिधारा समान सम्पूर्ण विश्वको सन्तुष्ट करनेकी सामर्थ्य रखती है। परलोक-साधनका यह वह एक उत्तम उपाय है कि जो स्वर्गप्राप्ति अनेक योगादि द्वारा भी अति दुष्कर है वह इससे सहज ही में हो सकती है। जिनका चित्त प्रेमरससे आर्द्र न होकर कपट और कुटिलतासे पूर्ण हो पाषाण सदृश कठोर हो रहा है उनके समस्त योगादि धर्मकार्य कुञ्जर-ज्ञान सदृश व्यर्थ है। यदि मनोवृत्ति मलिन हुई तो बाहरी स्वच्छता आचार विचार दान पुण्यसे क्या फलसिद्धि है ? “मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विषरस भरा कनक-घट जैसे ॥” यह वह मोहनमन्त्र है कि जिसके साधनसे जगत वशीभूत हो सकता है। जिन्होंने प्रेमरस प्याला पिया है उन्हें अमृत-पानकी क्या आवश्यकता है, जो स्वकीय हृदयके अन्तरतम प्रदेशमें प्रीतिके इस प्रकारके भावको निरन्तर परिपोषण करते हैं

उन्हें मनुष्य जातिके परम प्रिय बन्धु कहना उचित है। यह उन्हींका सुश्लोक है—

“अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानाञ्च वसुधैव कुटुम्बकम् ॥”

हे भारतीय प्रजागण, तुम कब सम्पूर्ण कपट वञ्चकवृत्ति परस्परकी ईर्ष्या द्रोह स्वार्थतत्परता और निष्ठुरता आदि खल प्रकृतिका त्यागकर परम पवित्र बन्धुप्रेम ऐक्य और सुमतिसे पूर्ण हो सर्वसाधारणके सुख वा दुःखमें सुखी वा दुःखी होकर इस पूर्वोक्त सुश्लोकके अधिकारी होंगे ? तनिक सोचो तो सही तुम्हारे पूर्वपुरुष सदा इस प्रेमका पोषण करते रहे, देखो पतिप्राणा रामहृदय-सरोज-कुमुदिनी जनक-नन्दिनी इसी प्रेम-राग-रञ्जिता हो पिशाच-राक्षस-समाकीर्ण निबिड़ काननमें पर्णकुटी ही को राजभवनका सुख मान अपने प्राणप्रियकी सहगामिनी हुई। यह प्रेम ही है जिसने गोपिकाओंको कृष्णानन-पङ्कज-भ्रमरिका कर दिया, वह प्रेम ही का परिपाक है जिसने पुत्रशोकविधुर दशरथ महाराजको स्वर्गवास दिया, इत्यादि अनेक उदाहरण प्रेम-पोषणके हैं ; यह प्रत्यक्ष है कि जबसे हम लोगोंने प्रेमका अङ्गुर अपने लोगोंमेंसे उखाड़ कर फेंक दिया तभीसे नित्य क्षीण होते जाते हैं ; महाभारतका घोर संग्राम जो भारतवर्षके सर्वनाशका प्रथमावतार था, इसी प्रेमके अभावसे हुआ। निस्सन्देह जिस देश वा जातिके लोग इस पवित्र प्रेमकी पूजा न करेंगे, वे ऐसे ही कौड़ीके तीन तीन होंगे।

अंधेर-नगरी

[भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (संवत् १९०७-१९४१ वि०)—ये वर्षमान हिन्दी गद्यके प्रवर्तक माने गये हैं। इन्होंने गद्यकी भाषाको परिमार्जित करके उसे सुन्दर स्वच्छ रूप दिया। कविता-रचनामें प्राचीन और नवीनकी संधि रखी जिससे हिन्दी-कविताका इनसे एक नया युग आरम्भ हुआ। इनके द्वारा हिन्दी-साहित्य एक नये मार्ग में आ गया और इनकी भाषा-संस्कारकी सहजताको सभीने सुलभतासे स्वीकार किया।]

अंधेर-नगरी चौपट राजा ।

टके सेर भाजी टके सेर खाजा ॥

पहला दृश्य

[वाद्य-प्रात]

(महंतजी दो चेलींके साथ गाते हुए आते हैं)

सब—राम भजो राम भजो राम भजो भाई ।

रामके भजेसे गनिका तर गई,

रामके भजेसे गौध गति पाई ।

रामके नामसे काम बनै सब,

रामके भजन बिनु सबहिं नसाई ॥

महंत—बच्चा नारायणदास, यह नगर तो दूरसे बड़ा सुंदर दिखलाई पड़ता है। देख, कुछ भिच्छा-उच्छा मिले तो ठाकुरजीको भोग लगे। और क्या।

ना० दा०—गुरुजी महाराज, नगर तो नारायणके आसरेसे बहुत ही सुंदर है, जो है सो, पर भिन्ना सुंदर मिले तो बड़ा आनंद हो ।

महंत—बच्चा गोवर्धनदास, तू पच्छिमकी ओरसे—जा और नारायणदास पूरबकी ओर जायगा । देख, जो कुछ सीधा-सामग्री मिले तो श्रीशालग्रामजीका बालभोग सिद्ध हो ।

गो० दा०—गुरुजी, मैं बहुत सी भिच्छा लाता हूं । यहां लोग तो बड़े मालवर दिखलाई पड़ते हैं । आप कुछ चिंता मत कीजिये ।

महंत—बच्चा, बहुत लोभ मत करना । देखना, हां—

{ लोभ पापको मूल है, लोभ मिटावत मान ।
लोभ कभी नहिं कीजिये, यामैं नरक निदान ॥ }

[गाते हुए सब जाते हैं]

[पटाक्षेप]

दूसरा दृश्य

[बाजार]

घासीराम—चने जोर गरम—

चने बनावैं घासीराम ।

जिनकी भोलीमें दूकान ॥

चना चुरमुर चुरमुर बोलै ।

बाबू खानेको मुंह खोलै ॥

चने जोर गरम ! टके सेर !

नरंगीवाली—नरंगी ले .नरंगी—कंवला नीब, मीठा नीबू,
रंगतरा, संगतरा, नरंगी ! टके सेर नरंगी !

हलवाई—जलेबियां गरमा गरम ! ले सेव, इमरती, लड्डू,
कचौड़ी, दालमोट, पकौड़ी, घेवर, गुपचुप ! जो खाय सो भी
पक़्क़ताय, जो न खाय सो भी पक़्क़ताय । रेवड़ी कड़ाका, पापड़
पड़ाका । सब सामान ताजा । खाजा—ले खाजा । टके सेर
खाजा ।

कुंजडिन—ले धनिया, मेथी, सोआ, पालक, चौराई, सरसोंका
साग । ले फालसा, खिरनी, आम, अमरुद, निबुआ, मटर,
होरहा । (जैसे काजी वैसे पाजी । रैयत राजी, टके सेर भाजी ।
ले हिंदुस्तानका मेवा फूट और बैर ।)

मुग़ल—बादाम, पिस्ते, अखरोट, बिहीदाना, सुनक्का, किशमिश,
अंगूरकी पिटारी । (हिंदुस्तानका आदमी लक-लक, हमारे वहांका
आदमी बंबक-बंबक) लो सब मेवा टके सेर ।

चूरनवाला—

चूरन अमलवेदका भारी ।
जिसको खाते कृष्ण मुरारी ॥
मेरा पाचक है पचलोना ।
जिसको खाते श्याम सलोना ॥
चूरन बना मसालेदार ।
जिसमें खट्टेकी बहार ॥
चूरन नाटकवाले खाते ।
इसकी नकल पचा कर लाते ॥

चूरन सभी महाजन खाते ।
 जिससे जमा हजमकर जाते ॥
 चूरन खाते लाला लोग ।
 जिनको अकिल अजीरन रोग ॥
 चूरन खावें एडिटर जात ।
 जिनके पेट पचै नहिं बात ॥

ले चूरनका ढेर, बेचा टके सेर ।

जातवाला (ब्राह्मण)—जात ले जात, टके सेर जात । एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं । (टकेके वास्ते ब्राह्मणसे धोबी हो जायं और धोबीको ब्राह्मण कर दें ।) वेद, धर्म, कुल-मरजादा, सचाई-बड़ाई, सब टके सेर । लुटाय दिया अनमोल माल । ले टके सेर ।

(बाबाजीका चेला गोबर्धनदास आता है और सब बेचनेवालोंकी आवाज़ सुन सुनकर खानेके आनंदमें बड़ा प्रसन्न होता है ।)

गो० दा०—क्यों भाई बनिये, आटा कितने सेर ?

बनिया—टके सेर ।

गो० दा०—औ चावल ?

बनिया—टके सेर ।

गो० दा०—औ चीनी ?

बनिया—टके सेर ।

गो० दा०—औ घी ?

बनिया—टके सेर ।

गो० दा०—सब टके सेर ! सचमुच ?

बनिया—हां महाराज, क्या भूठ बोलूंगा ?

गो० दा०—(कुंजड़िनके पास जाकर) क्यों माई, भाजी क्या भाव ?

कुंजड़िन—बाबाजी, टके सेर । निनुआ, मुरई, धनिया, मिरचा, भाग सब टके सेर ।

गो० दा०—सब भाजी टके सेर ! वाह-वाह ! बड़ा आनंद है । यहां सभी चीज़ टके सेर । (हलवाईके पास जाकर) क्यों भाई हलवाई, मिठाई कितने सेर ?

हलवाई—बाबाजी, लड्डूआ, हलुआ, जलेबी, गुलाबजामुन, खाजा, सब टके सेर ।

गो० दा०—वाह ! वाह ॥ बड़ा आनंद है । क्यों बच्चा, मुझसे मसखरी तो नहीं करता ? सचमुच सब टके सेर ?

हलवाई—हां बाबाजी, सचमुच सब टके सेर । इस नगरीकी चाल ही यही है । यहां सब चीज़ टके सेर बिकती है ।

गो० दा०—क्यों बच्चा, इस नगरीका नाम क्या है ?

हलवाई—अंधेर-नगरी ।

गो० दा०—और राजाका क्या नाम है ?

हलवाई—चौपट राजा ।

गो० दा०—वाह ! वाह ॥ अंधेर-नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा ।

[यही गाता है और आनंदसे बगल बजाता है ।]

हलवाई—तो बाबाजी, कुछ लेना देना हो तो लो दो ।

गो० दा०—बच्चा, भिन्ना मांगकर सात पैसे लाया हूँ, साढ़े तीन

सेर मिठाई दे दे, गुरु-चेले सब आनंदपूर्वक इतनेमें छक जायंगे ।

[हलवाई मिठाई तौलता है—बाबाजी मिठाई लेकर खाते हुए और अंधेर-नगरी गाते हुए जाते हैं ।]

[पटाक्षेप]

तीसरा दृश्य

[जगल]

(महंतजी और नारायणदास एक ओरसे 'राम भजी' इत्यादि गाते हुए आते हैं और दूसरी ओरसे गोबर्धनदास अंधेर-नगरी गाता हुआ आता है ।)

महंत—वच्चा गोबर्धनदास, कह, क्या भिच्छा लाया ? गठरी तो भारी मालूम पड़ती है ।

गो० दा०—गुरुजी महाराज, सात पैसे भीखमें मिले थे, उसीसे साढ़े तीन सेर मिठाई मोल ली है ।

महंत—वच्चा, नारायणदासने मुझसे कहा था कि यहाँ सब चीज़ टके सेर मिलती है, तो मैंने इसकी बातका विश्वास नहीं किया । वच्चा, यह कौनसी नगरी है और इसका कौनसा राजा है, जहाँ टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा बिकता है ?

गो० दा०—अंधेर-नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा ।

महंत—तो बच्चा, ऐसी नगरीमें रहना उचित नहीं है, जहां टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा हो—

दोहा—{ सेत सेत सब एकसे, जहां कपूर कपास ।
 { ऐसे देस कुदेसमें, कवह्नं न कीजै बास ॥ }

सो बच्चा चलो यहांसे । ऐसी अंधेर-नगरीमें हजार मन मिठाई सुफ्तकी मिले तो किस काम की ? यहां एक छन नहीं रहना ।

गो० दा०—गुरुजी, ऐसा तो संसार भरमें कोई देश ही नहीं है । दो पैसा पास रहने ही से मजेमें पेट भरता है । मैं तो इस नगरको छोड़कर नहीं जाऊंगा ।

महंत—देख बच्चा, पीछे पछतायगा ।

गो० दा०—आपकी कपासे कोई दुःख न होगा, मैं तो यही कहता हूं कि आप भी यहां रहिये ।

महंत—मैं तो इस नगरमें अब एक क्षण भर नहीं रहूंगा । देख, मेरी बात मान, नहीं पीछे पछतायगा । मैं तो जाता हूं, पर इतना कहे जाता हूं कि कभी संकट पड़े तो हमारा स्मरण करना ।

गो० दा०—प्रणाम गुरुजी, मैं आपका नित्य ही स्मरण करूंगा । मैं तो फिर भी कहता हूं कि आप भी यहीं रहिये ।

[महंतजी नारायणदासके साथ जाते हैं, गोबर्धनदास बैठ कर मिठाई खाता है ।]

[पटाक्षेप]

चौथा दृश्य

[राजसभा]

(राजा, मंत्री और नौकर लोग यथास्थान स्थित हैं ।)

एक सेवक—(चिल्लाकर) पान खाइये, महाराज ।

राजा—(पिनकसे चौंके घबराकर उठता है) क्या कहा ?
सुपनखा आई ए महाराज । (भागता है)

मंत्री—(राजाका हाथ पकड़कर) नहीं नहीं, यह कहता है कि
पान खाइए महाराज ।

राजा—दुष्ट, लुच्चापाजी ! नाहक हमको डरा दिया । मंत्री,
इसको सौ कोड़े लगें ।

मंत्री—महाराज, इसका क्या दोष है ? न तमोली पान
लगाकर देता, न यह पुकारता ।

राजा—अच्छा, तमोलीको दो सौ कोड़े लगें ।

मंत्री—पर महाराज, आप पान खाइए सुनकर थोड़े ही डरे
हैं, आप तो सुपनखाके नामसे डरे हैं, सुपनखाकी सजा हो ।

राजा—(घबराकर) फिर वही नाम, मंत्री तुम बड़े खराब आदमी
हो । नौकर, नौकर, शराब—

दूसरा सेवक—(एक सुराहीमेंसे एक गिलासमें शराब उभलकर
देता है) लीजिए महाराज, पीजिए महाराज ।

राजा—(मुंह बना-बनाकर पीता है) और दे ।

(नेपथ्यमें दुहाई है दुहाईका शब्द होता है ।)

राजा—कौन चिल्लाता है ? पकड़ लाओ ।

(दो नौकर एक फर्यादीको पकड़ लाते हैं ।)

फ०—दोहाई, महाराज, दोहाई है। हमारा न्याव होय।

राजा—चुप हो। तुम्हारा न्याव यहां ऐसा होगा कि जैसा जमके यहां भी न होगा—बोलो क्या हुआ।

फ०—महाराज, कल्लू बनियेकी दीवार गिर पड़ी सो मेरी बकरी उसके नीचे दब गई। दोहाई है, महाराज, न्याव हो।

राजा—(नौकरसे) कल्लू बनियेकी दीवारको अभी पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज, दीवार नहीं लाई जा सकती।

राजा—अच्छा, उसका भाई, लड़का, दोस्त, जो हो उसको पकड़ लाओ।

मंत्री—महाराज, दीवार ईंट-चूनेकी होती है, उसके भाई-बेटा नहीं होता।

राजा—अच्छा, कल्लू बनियेको पकड़ लाओ।

(नौकर लोग दौड़कर बाहरसे बनियेको पकड़ लाते हैं।)

राजा—क्यों वे बनिये, इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दबकर मर गई ?

मंत्री—बरकी नहीं महाराज, बकरी।

राजा—हां। हां। बकरी क्यों मर गई बोल, नहीं अभी फांसी देता हूं।

कल्लू—महाराज, मेरा कुछ दोष नहीं। कारीगरने ऐसी दीवार बनायी कि गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस कल्लूको छोड़ दो, कारीगरको पकड़ लाओ।

(कल्लू जाता है, लोग कारीगरको पकड़कर लाते हैं।)

राजा—क्यों वे कारीगर, इसकी बकरी किस तरह मर गई ?

कारीगर—महाराज, मेरा कुछ कसूर नहीं, चूनेवाले ने चूना ऐसा बोदा बनाया कि दीवार गिर पड़ी।

राजा—अच्छा, इस कारीगरको बुलाओ, नहीं नहीं, निकालो ; उस चूनेवालेको बुलाओ ।

(कारीगर निकाला जाता है, चूनेवाला पकड़कर लाया जाता है ।)

राजा—क्यों वे खैर-सुपारी-चूनेवाले, इसकी कुबरी कैसे मर गई ?

चूनेवाला—महाराज, मेरा कुछ दोष नहीं ; भिश्तीने चूनेमें पानी ज्यादा डाल दिया, इसीसे चूना कमजोर हो गया होगा ।

राजा—अच्छा, चुन्नीलालको निकालो, भिश्तीको पकड़ो ।

(चूनेवाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है ।)

राजा—क्यों वे भिश्ती, गंगा-जमुनाको किश्ती । इतना पानी क्यों डाल दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई ?

भिश्ती—महाराज, गुलामका कोई कसूर नहीं, कसार्दने मसक इतनी बड़ी बना दी थी कि उसमें पानी ज्यादा आ गया ।

राजा—अच्छा, कसार्दको लाओ, भिश्तीको निकालो ।

(लोग भिश्तीको निकालते हैं और कसार्दको लाते हैं ।)

राजा—क्यों वे कसार्द, मसक ऐसी क्यों बनाई कि दीवार गिराई, और बकरी दबाई ?

कसार्द—महाराज, गढ़ेरियेने टके पर ऐसी बड़ी भेड़ मेरे हाथ बेची कि उसकी मसक बड़ी बन गई ।

राजा—अच्छा, कसार्दको निकालो, गढ़ेरियेको लाओ ।

(कसार्द निकाला जाता है और गढ़ेरिया लाया जाता है ।)

राजा—क्यों वे ऊख पौड़ेके गढ़ेरिये, ऐसी बड़ी-भेड़ क्यों बेची कि बकरी मर गई ?

गड़रिया—महाराज, उधरसे कोतवाल साहबकी सवारी आई, सो उसके देखनेमें मैंने छोटी बड़ी भेड़का खयाल नहीं किया, मेरा कुछ कसूर नहीं।

राजा—अच्छा. इसको निकालो, कोतवालको अभी सबमुहर पकड़ लाओ।

(गड़रिया निकाला जाता है, कोतवाल पकड़ा आता है।)

राजा—क्यों वे कोतवाल, तैने सवारी ऐसी धूमसे क्यों निकाली कि गड़रियेने घबड़ाकर बड़ी भेड़ बेची, जिससे बकरी गिरकर कल्लू बनिया दब गया ?

कोतवाल—महाराज, महाराज, मैंने तो कोई कसूर नहीं किया, मैं तो शहरके इंतजामके वास्ते जाता था।

मंत्री—(आप ही आप) यह तो बड़ा गज़ब हुआ, ऐसा न हो कि यह बेवकूफ इस बातपर सारे नगरको फूंक दे या फांसी दे।

(कोतवालसे) यह नहीं, तुमने ऐसी धूमसे सवारी क्यों निकाली ?

राजा—हां हां, यह नहीं, तुमने ऐसी धूमसे सवारी क्यों निकाली कि उसकी बकरी दबी ?

कोतवाल—महाराज महाराज—

राजा—कुछ नहीं, महाराज महाराज, ले जाओ, कोतवालको अभी फांसी दो। दरबार बरखास्त।

(लोग एक तरफसे कोतवालको पकड़कर ले जाते हैं, दूसरी ओरसे मंत्रीको पकड़कर राजा जाते हैं।)

[पटाक्षेप]

पांचवां दृश्य

(अरण्य ,

(गोबर्धनदास गाता हुआ आता है ।)

अंधेर-नगरी अनबूझ राजा ।

टके सेर भाजी टके सेर खाजा ॥

सांचे मारे मारे डोलैं ।

छली दुष्ट सिर चढ़ि-चढ़ि बोलैं ॥

प्रगट सभ्य अंतर छलधारी ।

सोई राजसभा बल भारी ॥

सांच कहैं ते पनही खावैं ।

भूठे बहु बिधि पदवी पावैं ॥

छलियनके एकाके आगे ।

लाख कहौ एकहु नहिं लागी ॥

ऊंच नीच सब एकहिं सारा ।

मानहुं ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा ॥

(बैठकर मिठाई खाता है ।)

गुरुजीने हमको नाहक यहां रहनेको मना किया था । माना कि देस बहुत बुरा है, पर अपना क्या ? अपने किसी राज-काजमें थोड़े ही हैं कि कुछ डर हो, रोज मिठाई चाभना, मजेमें आनंदसे रामभजन करना ।

(मिठाई खाता है)

(चार प्यादे चार ओरसे आकर उसको पकड़ लेते हैं ।)

१ प्यादा—चल बे चल, बहुत मिठाई खाकर मुटाया है । आज पूरी हो गई ।

२ प्या०—बाबाजी चलिए, नमोनारायण कीजिए ।

गो० दा०—(घबड़ाकर) हैं ! यह आफत कहांसे आई ।
अरे भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो मुझको पकड़ते हो ?

१ प्या०—आपने बिगाड़ा है या बनाया है, इससे क्या मतलब,
अब चलिए फांसी चढ़िए ।

गो० दा०—फांसी । अरे बाप रे बाप फांसी । मैंने किसके
प्राण मारे कि मुझको फांसी ।

२ प्या०—आप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फांसी होती है ।

गो० दा०—मोटे होनेसे फांसी ? यह कहांका न्याव है । अरे,
हंसी फकीरोंसे नहीं करनी होती ।

१ प्या०—जब सूली चढ़ लीजिएगा तब मालूम होगा कि हंसी
है कि सच । सीधी राहसे चलते हो कि घसीटकर ले चलें ?

गो० दा०—अरे बाबा, क्यों वेकसूरका प्राण मारते हो ?
भगवान्‌के यहां क्या जबाब दोगे ?

१ प्या०—भगवान्‌को जबाब राजा देगा । हमको क्या मतलब ।
हम तो हुक्मी बंदे हैं ।

गो० दा०—तब भी बाबा बात क्या है कि हम फकीर
आदमीको नाहक फांसी देते हो ?

१ प्या०—बात यह है कि कल कोतवालको फांसीका हुकुम
हुआ था । जब फांसी देनेको उसको ले गए, तो फांसीका
फंदा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल साहब दुबले हैं । हम लोगोंने
महाराजसे अर्ज किया । इसपर हुकुम हुआ कि एक मोटा आदमी
पकड़कर फांसी दे दो, क्योंकि बकरी मारनेके अपराधमें किसी-
न-किसीकी सजा होनी जरूरी है, नहीं तो न्याव न होगा ।

इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवालके बदले तुमको फांसी दें।

गो० दा०—दुहाई परमेश्वरकी ! अरे मैं नाहक मारा जाता हूँ ! अरे यहां बड़ा ही अंधेरा है, अरे गुरुजी महाराजका कहा मैंने न माना उसका फल मुझको भोगना पड़ा। गुरुजी कहां हो ! आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बे-अपराध मारा जाता हूँ। गुरुजी ! गुरुजी !!

(गोवर्धनदास चिल्लाता है, प्यादे उसको पकड़कर ले जाते हैं।)

[पटाक्षेप]

छठा दृश्य

(शमशान)

(गोवर्धनदासको पकड़े हुए चार सिपाहियोंका प्रवेश)

गो० दा०—हाय बाप रे। मुझे बेकसूर ही फांसी देते हैं। अरे भाइयो, कुछ तो धरम बिचारो। अरे मुझे छोड़ दो। हाय ! हाय !!

(रोता है और कुड़ानेका प्रयत्न करता है।)

१ सिपाही—अबे, चुप रह—राजाका हुकुम भला कहीं टल सकता है ? यह तेरा आखरी दम है, रामका नाम ले—बेफायदा क्यों शोर करता है ? चुप रह—

गो० दा०—हाय, मैंने गुरुजीका कहना न माना, उसीका यह फल है। अरे ! इस नगरमें ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है, जो इस

फ़क़ीरको बचावे। गुरुजी कहां हो ? बचाओ—गुरुजी—
गुरुजी—

(रोता है, सिपाही लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं।

गुरुजी और नारायणदास आते हैं।)

गुरु—अरे बच्चा गोबर्धनदास ! तेरी यह क्या दशा है ?

(गुरुजीको हाथ जोड़कर)

गो० दा०—गुरुजी, दीवारके नीचे बकरी दब गई, सो इसकी लिये मुझे फांसी देते हैं, गुरुजी बचाओ।

गुरु—अरे बच्चा ! मैंने तो पहिले ही कहा था कि ऐसे नगरमें रहना ठीक नहीं, तैने मेरा कहना नहीं सुना।

गो० दा०—मैंने आपका कहा नहीं माना उसीका यह फल मिला। आपके सिवा अब ऐसा कोई नहीं है जो रक्षा करे। मैं आप ही का हूँ, आपके सिवा और कोई नहीं।

(पैर पकड़कर रोता है।)

महन्त—कोई चिन्ता नहीं, नारायण सब समर्थ हैं।

(भौं चढ़ाकर सिपाहियोंसे)

सुनो, मुझे शिष्यको अंतिम उपदेश देने दो। तुम लोग तनिक किनारे हो जाओ। देखो, मेरा कहना न मानोगे तो तुम्हारा भला न होगा।

सिपाही—नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप बेशक उपदेश कीजिए।

(सिपाही हट जाते हैं। गुरुजी चलेके कानमें कुछ समझाते हैं।)

गो० दा०—(प्रगट) तब तो गुरुजी हम अभी फांसी चढ़ेंगे।

महंत—नहीं बच्चा, मुझको चढ़ने दे ।

गो० दा०—नहीं गुरुजी, हम फांसी चढ़ेंगे ।

महंत—नहीं बच्चा हम । इतना समझाया नहीं मानता, हम बड़े भए, हमको जाने दे ।

गो० दा०—स्वर्ग जानेमें बड़ा जवान क्या ? आप तो सिद्ध हैं, आपको गति-अगतिसे क्या ? मैं फांसी चढ़ूंगा ।

(इसी प्रकार दोनों झुजत करते हैं—सिपाही लोग परस्पर चकित होते हैं ।)

१ सिपाही—भाई, यह क्या माजरा है, कुछ समझ नहीं पड़ता ।

२ सिपाही—हम भी नहीं समझ सकते कि यह कैसा गड़बड़ है ।

(राजा, मंत्री, कोतवाल आते हैं ।)

राजा—यह क्या गोलमाल है ?

सिपाही—महाराज, चेला कहता है मैं फांसी पड़ूंगा, गुरु कहता है मैं पड़ूंगा, कुछ मालूम नहीं पड़ता कि क्या बात है ।

राजा—(गुरुसे) बाबाजी, बोलो । काहेको आप फांसी चढ़ते हैं ?

महंत—राजा, इस समय ऐसी साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुंठ जायगा ।

मंत्री—तब तो हमीं फांसी चढ़ेंगे ।

गो० दा०—हम—हम । हमको हुकुम है ।

कोतवाल—हम लटकेँगे, हमारे सबब तो दीवार गिरी ।

राजा—चुप रहो सब लोग । राजाके जीते जी और कौन बैकुंठ जा सकता है हमको फांसी चढ़ाओ, जल्दी, जल्दी ।

महंत—

{ जहां न धर्म न बुद्धि नहिं, नीति न सुजन समाज ।
ते ऐसहिं आपुहिं नसे, जैसे चौपट राज ॥ }

(राजाको लोग टिकठीपर खड़ा करते हैं)

[पटाक्षेप]

क्षमा

[साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास (संवत् १९१५-१९५६ वि०)—ये काशीमें रहते थे। व्यासजी संस्कृत साहित्यके बहुत बड़े विद्वान् और सनातन धर्मके कट्टर पक्षपाती थे। हिन्दीके भी बड़े अच्छे लेखक और वक्ता थे। हिन्दीमें इनके लेख बड़े घरेलू ढंगके होते थे। इन्होंने 'पीयूष-प्रवाह' नामक मासिक पत्र निकाला था जिसका सम्पादन इन्होंने बड़ी खूबीके साथ किया। 'क्षमा' प्रबन्ध पहले पटल उसी पत्रमें निकला था। इनके लिखे संस्कृत और हिन्दीके ग्रन्थोंकी संख्या लगभग ८० है। गद्यकाव्य-मीमांसा नामकी इनकी पुस्तक बड़े महत्त्वकी है। कविता भी इनकी बड़ी मधुर और भावपूर्ण होती थी। काशी-वर्णन आदि इनकी कविताएं बड़ी रोचक हैं।]

क्षमा कुछ साधारण गुण नहीं है। जिस पुरुषमें क्षमा नहीं वह अति क्रुद्ध समझा जाता है। जो ऐसे होते हैं कि किसीसे कुछ अपकार की शङ्का हुई कि उसका अपकार करनेको तैयार किसीके मुंहसे भ्रमसे भी कुछ कर्त्ता शब्द निकला कि आप गालियोंकी वर्षा करने लगे। किसीने अल्प अपराध भी किया तो उसपर फट टूट पड़े वे अति तुच्छ समझे जाते हैं। जिनको क्षमा नहीं उनके लड़के बाले बड़े दुर्बल होते हैं क्योंकि वे बात बातमें धूसे और धुरके जाते

हैं और बात बातमें मार खाते हैं। उनसे जो खोलकर कोई बात नहीं करता, क्योंकि यह आशङ्का सबको रहती है कि बातोंमें कोई अनुचित न हो जाय।

जिसको क्षमा नहीं है उससे कितने ही काम चटपटमें ऐसे अनुचित बन जाते हैं कि पीछे जन्म भर पछतावा रह जाता है। (क्षमा-रहित पुरुष राजसभाओंमें तो कभी टिक ही नहीं सकते। जैसे किसी कटोरेमें जल हो तो उसमें जहां कुछ और पदार्थ डाला कि जल उबला यह स्वभाव अक्षम पुरुषोंका है।) समुद्रमें पहाड़ आ पड़े तो भी उसका बढ़ना घटना फैलना कुछ नहीं विदित होता यह स्वभाव क्षमावान्-पुरुषोंका है जैसे गजराजके पीछे कुत्ता भूकता हुआ चलै और गजराज उसपर ध्यान न दे तो उसका कुछ नहीं बिगड़ता वैसे ही क्षमाशील पुरुष यदि तुच्छोंकी बकबकपर ध्यान न दें तो उनकी क्या हानि है? यदि कोई अपनेको गाली दे तो भी यों समझ लेना कि—

“जाके ढिगिं बहु गारी ह्वै है सोई गारी दैहै।

गारी वारो आयु कहै है हमरोका घटि जैहै” ॥

कोई समझते हैं कि जो हमको गाली देता है उसे यदि हम गाली न दें तब तो हमारी बड़ी अप्रतिष्ठा होगी पर यह उल्टी ही बात है। तुच्छोंकी गाली पर गाली ही देनेसे टंटा बढ़ता है और चुप रहनेसे कोई जानता भी नहीं कि किसको किसने गाली दी।

एक समय वशिष्ठ और विश्वामित्रके बड़ा झगड़ा चला। झगड़ा तो इस बातका था कि विश्वामित्र क्षत्रिय थे पर बहुत तप करनेके कारण कहते थे कि हमें सब कोई ब्राह्मण कहा कीजिये,

पर यह बात उस समयके ब्राह्मणोंको अच्छी न लगी। वशिष्ठजीने कहा कि आप क्षत्रिय थे पर तपस्वी हैं इसलिये राजर्षि कहला सकते हैं परन्तु ब्रह्मर्षि नहीं।

इस बातपर विश्वामित्रने वशिष्ठजीसे शत्रुता बांधी। विश्वामित्र बार बार अधिक अधिक तप करके आते थे और वशिष्ठजीसे झगड़ा करते थे, पर वशिष्ठजी उनपर क्षमा ही रखते थे। पुराणोंमें ऐसा लिखा है कि एक बार विश्वामित्र बहुत तपकर आकर वशिष्ठको ललकार बोले कि हमें ब्राह्मण कहो, नहीं तो युद्ध करो। वशिष्ठजी एक दण्ड लेकर कुटीके बाहर खड़े हो गये। विश्वामित्र उनपर बहुतसे शस्त्र अस्त्र चलाने लगे परन्तु वशिष्ठजीने अपने तपोबलसे सबको उसी दण्डपर रोका। जब विश्वामित्र कोटि कला कर हारे तब वशिष्ठजीने कहा कि भाई, और कोई शस्त्र अस्त्र बाकी हो तो चला लो फिर हम भी आरम्भ करेंगे। तब विश्वामित्रने हाथ जोड़े और वशिष्ठजीने क्षमा की।

कालान्तरमें वशिष्ठजी एक समय अपनी कुटीमें बैठे आंख बन्द किये ध्यान कर रहे थे और अंधेरी रात थी। चारों ओर मारे अन्धकारके ऐसा जान पड़ता था कि काजलकी आंधी चल रही है अथवा स्याहीकी वर्षा हो रही है। काले मेघमण्डलसे तारोंका भी प्रकाश बन्द होगया था। उस समय विश्वामित्रके चित्तमें यह बात आई कि जितने ब्राह्मण हैं वे वशिष्ठ ही पर ढलते हैं और कहते हैं कि वशिष्ठ यदि ब्राह्मण कहें तो हम लोग भी ब्राह्मण कहें, और वशिष्ठ ऐसा दुष्ट है कि चाहे कुछ हो हमें ब्राह्मण न कहैगा। तो इस अन्धेरेमें वशिष्ठका सिर काट डालना चाहिये।

यह बिचार चोरकी भांति तलवार ले वशिष्ठकी कुटीमें घुसे।

दैवात् वशिष्ठकी समाधि खुली, वशिष्ठने पूछा “कौन है ?” तो विश्वामित्रने कहा कि तुम मुझे ब्राह्मण नहीं कहते इसलिये मैं तुम्हारा सिर काटने आया हूँ। वशिष्ठने कहा कि आप ही सोच लीजिये क्या तो पाप करने आप आये हैं ? ऐसे ही ब्राह्मणोंके कर्म होते हैं ? क्या ऐसे ही स्वभावके भरोसे आप ब्राह्मण बनना चाहते हैं ? यह सुनते ही विश्वामित्र लज्जित हो गये, और तलवार दूर फेंक प्रणाम कर बैठ गये, और अपने अपराध क्षमा कराने लगे।

वशिष्ठजीने कहा “हमें कुछ बदला नहीं लेना है कि आप क्षमा मांगें पर देखिये जिस समय आप अहंकारसे ऊंचे बननेका उंका दे युद्धका डौल बांधते थे तब सबकी दृष्टिमें आप छोटे जंचते थे और आप अब हाथ जोड़े अपनेको तुच्छ समझे बैठे हैं तो हमारी दृष्टिमें ऊंचे जान पड़ते हैं। इस समय आपके हृदयमें अहंकार नहीं, क्रोध नहीं, कल नहीं, ईर्ष्या नहीं, मद नहीं, मत्सर नहीं—बस ऐसा हृदय रखिये तो आप सबसे बड़े हैं।” विश्वामित्रजीको यह सुन बहुत बोध हुआ और वशिष्ठजीका इतना भारी क्षमागुण देख देख सबको आश्चर्य हुआ।

इसलिये यही चित्तमें स्थिर करके रखना चाहिये कि—

॥ दोहा ॥

“छमा सकल गुनसो बड़ो, छमा पुन्यको मूल।

छमा जासु हिरदे रहै, तासु दैव अनुकूल ॥

अपराधी निज दोषतें, दुख पावत बसु जाम।

छमाशील निज गुनन ते, सुखी रहत सब ठाम ॥”

भीष्म की शरशय्या

[पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी (सवत् १९२१-१९२५ वि०)—ये हिन्दीके धुरधर विद्वान् थे।

संस्कृत, फारसी, मराठी, गुजराती, बंगला, अगरेजी आदि भाषाओमें भी इनका अच्छा अधिकार था। हिन्दी गद्य लिखनेकी इनकी एक विशेष शैली है जो उत्कृष्ट समझी जाती है। हिन्दी लेखकोंमें ऐसा अच्छा गद्य लिखनेवाले बहुत कम हैं। इन्होंने बहुतसे मौलिक ग्रन्थ लिखे और उपयोगी पुस्तकोंका हिन्दीमें अनुवाद भी किया। ये अच्छे कवि भी थे। खड़ी बोलीकी कविताकी आजकल जो उन्नति हुई है उसका श्रेय द्विवेदीजीकी ही है। सच कहा जाय तो ये अपने जोड़ेके एक ही लेखक थे। समालोचकके रूपमें भी इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इन्होंने कई पुस्तकोंपर खतन्त्र समालोचनाएँ लिखी हैं।]

युद्धके मैदानमें सञ्जय सब बातें अपनी आंखों देखते थे और सायङ्काल युद्धका सच्चा सच्चा हाल धृतराष्ट्रसे कहते थे। उस दिन सन्ध्या-समय जब वे युद्धके मैदानसे लौटे तब उदास और चिन्तामें डूबे बैठे हुए राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार युद्धका हाल कहा—

“महाराज। हम सञ्जय हैं। आपको हमारा प्रणाम है। कुरु-पितामह भीष्म आज युद्धमें मारे गये। योद्धाओंमें जो सबसे श्रेष्ठ थे, और कौरव-बीरोंको जिनका इतना भरोसा था, वही भीष्म आज बाणोंके सेजपर सोये हैं। जिन्होंने काशीके महायुद्धमें सैकड़ों राजाओंके साथ एक-रथ युद्ध करके सबको हरा दिया, खुद परशुराम भी जिन्हें नहीं जीत सके, वही भीष्म आज शिखण्डीके द्वारा परास्त होकर ज़मीनपर पड़े हैं। शूरतामें जो इन्द्रके समान, स्थिरतामें हिमालयके समान, सहन-शीलतामें पृथ्वीके समान, और गम्भीरतामें समुद्रके समान थे, बीरोंका संहार करनेवाले वही महावीर भीष्म

दस दिन तक अपनी सेनाकी रक्षा करके और अनेक अद्भुत अद्भुत काम करके आज सूर्यकी तरह अस्त हो गये ।”

धृतराष्ट्रने कहा—“हे सञ्जय ! यह तुम कैसे कह रहे हो कि भीष्म आज मारे गये ! देवता भी जिन्हें नहीं जीत सकते थे ऐसे महादुर्धर्ष भीष्मको पाञ्चाल देशके शिखण्डीने युद्धमें क्यों कर मारा ? संसारमें जितने धनुष धरनेवाले हैं उन सबमें श्रेष्ठ भीष्मके मारे जानकी ख़बर सुननेसे अधिक और क्या दुख हो सकता है ? ओहो ! क्या ही आश्चर्यकी बात है ! जिसने दस दिन तक इन्द्रकी तरह अनल-बाण वर्षा करके एक अर्ब वीरोंको मार गिराया वही आज खुद मारा जाकर, प्रचण्ड पवनके झकोरोंसे टूटकर गिरे हुए वृक्षकी तरह युद्धके मैदानमें पड़ा है । महारथियोंके कुलमें उत्पन्न हुए उस वीरपुरुषके हारनेका सारा वृत्तान्त हमसे कहो ; क्योंकि सब बातें अच्छी तरह सुने बिना हम नहीं रह सकते ।”

सञ्जय बोले—“महाराज, इस युद्धके संबन्धमें जिस महात्माके वरदानसे हम आंखसे न देख पड़नेवाली बातें भी देख सकते हैं, बहुत दूर होनेवाली बातें भी सुन सकते हैं, और दूसरोंकी मनकी भी बातें जान सकते हैं, उन्हींको नमस्कार करके हम विस्तारपूर्वक युद्धका वर्णन करते हैं, सुनिए ।”

इसके अनन्तर पहली रातको पाण्डवोंका भीष्मके पास जाने, उनके उपदेशके अनुसार ब्यूहकी रचना करने और युद्धारम्भ होने आदिका यथार्थ वर्णन करके सञ्जय कहने लगे—

“जब शिखण्डीको आगे करके पाण्डवोंकी सेनाने कीरवोंसे घिरे हुए भीष्मपर आक्रमण किया तब महा घनघोर युद्ध होने लगा । वज्र हाथमें लिये हुए इन्द्रका सामना जैसे दैत्योंके दलने किया था,

ठीक उसी तरह महारथी भीष्मका सामना पाण्डव लोगोंने किया। तब पितामहने महाघोर मूर्त्ति धारण की और इन्द्रके वज्रपर रगड़ कर तेज़ किये गये सैकड़ों-हज़ारों बाणों की वर्षा करके आकाश पाताल एक कर दिया।

“धीरे धीरे हमारी सेनाका नाश करते करते भीम और अर्जुन व्यूहके द्वारपर जा पहुँचे। शिखण्डीके रथको बीचमें डालकर वे उसकी रक्षा करते थे। इससे शिखण्डीका रथ क्रम क्रमसे आगे बढ़ता गया और कुछ देरमें भीष्मके रथके पास पहुँच गया। तब अर्जुनने कहा—‘हे शिखण्डी! तुम्हारे लिये यही सबसे अच्छा मौका है। इस समय और किसी बातका सोच विचार न करके तुम तुरन्त ही भीष्मपर बार करो।’

“अर्जुनके कहनेके अनुसार शिखण्डीने भीष्मकी छातीपर बाण मारना आरम्भ कर दिया। परन्तु पितामहने शिखण्डीकी तरफ़ तुच्छ दृष्टिसे देखा—उन्हींने शिखण्डीकी अवज्ञामात्र की। शिखण्डीके बार पर बार करने पर भी उन्हींने एक बार भी उनपर बाण न चलाया, न और ही किसी शस्त्रसे उनपर चोट की। शिखण्डीकी मारकी कुछ भी परवा न करके पहले ही की तरह वे और और योद्धाओं पर बाण वर्षा करते रहे।

“किन्तु शिखण्डीके ध्यानमें यह बात नहीं आई। जिसमें शिखण्डीको यह न मालूम हो कि पितामह उनपर शस्त्र नहीं चलाते, अर्जुन बार बार शिखण्डीके उत्साहको बढ़ाकर उन्हें उत्तेजित करने लगे। अर्जुन बोले—‘हे शिखण्डी! इस समय भीष्मको मारनेकी जी खोलकर चेष्टा करो। इस इतनी बड़ी सेनामें तुम्हें छोड़कर ऐसा एक भी योद्धा नहीं जो इस महान कामको कर सके। यदि

तुम्हारी चेष्टा निष्फल गई तो हमारी और तुम्हारी दोनोंकी बे-तरह हंसी होगी ।’

“तब बलके मदसे मतवालेसे होकर शिखण्डीने अपने बाणोंसे भीष्मको तोप दिया । परन्तु पितामह इससे ज़रा भी विचलित नहीं हुए । उन्होंने हंसते हंसते उन सब बाणोंको अपने शरीरपर धारण कर लिया । शरीरमें इतने बाण छिद जाने पर भी उन्होंने व्यथाके कोई चिह्न नहीं प्रकट किये । उलटा दूने उत्साहसे वे पाण्डवोंकी सेनाका नाश करते रहे । दुर्योधनने देखा कि अर्जुन इस तरह शिखण्डीकी रक्षा कर रहे हैं कि किसी भी कौरव वीरकी पहुंच शिखण्डी तक नहीं होती । इसलिये दुर्योधनने ललकार कर कहा—‘हे योद्धाओं ! तुम लोग तुरन्त ही अर्जुनपर आक्रमण करो । भीष्म तुम्हारी रक्षा करेंगे । कोई तुम्हारा कुछ भी नहीं कर सकेगा ।’

“इस आज्ञाके अनुसार बड़े बड़े राजा—बड़े बड़े बल-विक्रम-शाली वीर—अर्जुनपर दूढ़नेके लिये इस तरह दौड़े जैसे दीपक पर गिरकर जलनेके लिये पतंग दौड़ते हैं । किन्तु अर्जुनके महा-वेगशाली बाणों और अक्ष-शस्त्रोंकी मारसे विकल होकर कुछने तो गिरकर वहीं प्राण छोड़ दिये और कुछ भाग निकले । भीष्मकी रक्षा करनेवाले लोग शिखण्डीको मारनेकी जो चेष्टा करते थे उसे अर्जुन पहले ही की तरह अपने बाणोंसे व्यर्थ करते रहे । कोई भी शिखण्डीको कुछ भी हानि न पहुंचा सका ।

“इस प्रकार बहुत देरतक युद्ध होता रहा । अन्तमें शिखण्डी और दूसरे योद्धाओंके बाणोंने पितामहको बेतरह घायल कर दिया । उनके शरीरमें सब तरफ़ घाव ही घाव हो गये । इससे उन्हें बहुत

पीड़ा होने लगी। उन्होंने जान लिया कि हमारा अन्तकाल अब समीप है। तब उन्होंने अपनी रक्षाका यत्न करना छोड़ दिया। धनुर्बाण तो उन्होंने रख दिया और तरवार लेकर रथसे उतर पड़े। उस समय पितामहपर अर्जुनको दया आई। उन्होंने शिखण्डीके शिथिल बाणों द्वारा पितामहको बहुत देरतक पीड़ित करना और व्यथा पहुंचाना व्यर्थ समझा। इसलिये उन्होंने क्षुद्रक नामक एक एक करके पच्चीस बाणोंसे उनके शरीरको भीतरतक बे-तरह छेद दिया। तब पितामहका अंग काबूमें न रहा, हाथ पैर आदि सब शिथिल हो गये। इस दशाको प्राप्त होनेपर, वगलमें खड़े हुए दुःशासनसे उन्होंने कहा—‘हे दुःशासन। ये बाण, जो हमारे इतने मजबूत कवचको फोड़कर शरीरके भीतर चले जा रहे हैं, कदापि शिखण्डीके चलाये हुए नहीं हैं। ये बज्र और ब्रह्म-दण्डकी तरह वेगवाले अत्यन्त असह्य शर, जो हमारे शरीरकी हड्डियोंतक को तोड़कर हमें बेतरह विकल कर रहे हैं, शिखण्डीके धनुषसे कभी नहीं छूट सकते। ये अत्यन्त क्रुद्ध फुफकारते हुए विषधर नागके समान तीर, जो हमारे मर्मस्थानोंके भीतर प्रवेश करके हमारा प्राण ले रहे हैं, अर्जुनके गाण्डीवधन्वासे निकले हुए हैं, इसमें कोई-सन्देह नहीं। गाण्डीवको छोड़कर और कोई हमें ज़मीनपर नहीं गिरा सकता।’

“यह कहते हुए भीष्म पितामह धीरे धीरे ज़मीनपर गिर गये। किन्तु उनके शरीरमें इतने बाण छिदे हुए थे कि वह ज़मीनको नहीं छू गया। बीरोंके योग्य शरशय्यापर इस समय पितामह सो रहे हैं।

‘हे महाराज। इस महावीरके शरीरके साथ हम लोगोंका सारा उत्साह नष्ट हो गया। सूर्यके समान तेजस्वी इस महात्माके साथ हमारी सारी आशा धूलमें मिल गई।

धृतराष्ट्रने कहा—“हमारी ही मूर्खताके कारण पितृतुल्य भीष्मकी आज यह दशा हुई। इससे अधिक दुखकी बात हमारे लिए और क्या हो सकती है? हमारा हृदय सचमुच ही पत्थरका है, नहीं तो ऐसी शोचनीय घटनाको सुनकर भी वह फट क्यों नहीं गया? ऋषियोंने क्षत्रियोंके धर्मको बड़ा ही दुखदायी बनाया है। उसे उन्होंने ऐसा दारुण कर दिया है कि उसके पालनके लिये पितामह ऐसे महात्माका बध कराकर हम लोग राज्य करनेकी इच्छा करते हैं, और उधर पाण्डव भी उनका संहार करके राज्य पानेकी आशा रखते हैं। बीच धारामें नाव डूब जानेसे पार जानेकी इच्छा रखनेवालेकी जो दशा होती है, भीष्मकी मृत्युसे हमारे पुत्रोंकी ठीक वही दशा हुई है। हाय! भीष्मके बिना इस समय दुर्योधन अब किसके आसरे रहेंगे? हे सज्जन! इस युद्धमें हमारे पुत्रोंकी क्या दशा होगी, यह सोचकर पहलेसे ही हमारा हृदय शोकाग्निसे जल रहा था। तुमने भीष्मकी मृत्युकी खबर सुनाकर उस आगमें मानों घी डालकर उसे और भी प्रज्वलित कर दिया। उस भीमकर्मा महायोद्धा भीष्मकी मृत्यु-वार्ता सुनकर हमारे मुंहसे अब बात नहीं निकलती। हमारी बानी बंद सी हो रही है। हममें और अधिक बोलनेकी शक्ति नहीं है।’ ✓

“इधर कुरु-सेनापति भीष्मके शर-शय्यामें सो जानेपर कौरव लोग बे-तरह घबरा गये। कुछ देरतक एक दूसरेका मुंह देखते हुए सब लोग खड़े रह गये। यह किसीको न सूझा कि अब क्या करना चाहिये। अन्तमें दुर्योधनकी आज्ञासे दुःशासन, द्रोणाचार्यकी सेनाकी तरफ दौड़ते हुए गये। उन्हें इस प्रकार

जल्दी जल्दी जाते देख सैकड़ों योद्धा, यह जाननेके लिये कि मामला क्या है, उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनके साथ साथ चले ।

“द्रोणके पास पहुँचकर दुःशासनने उनसे भीष्मके मरनेकी बात कही ।’ इस महा अमङ्गल समाचारको सुनते ही द्रोणाचार्य एकाएक मूर्च्छित होकर रथपर गिर पड़े । होश आनेपर उन्होंने दूत-द्वारा अपने सेना-विभागको तत्काल युद्ध बन्द करनेके लिये आज्ञा दी । तब पाण्डवोंने भी शङ्ख-ध्वनि करके उस दिनका युद्ध समाप्त किया ।

“युद्ध बन्द होनेपर दोनों दलोंके सैनिक लोग अपने अपने कवच उतारकर और हथियार रखकर, भीष्मकी शर-शय्याके पास आये और बड़े आदरसे भीष्मको प्रणाम करके उन्हें चारों तरफ़से घेरकर खड़े हो गये । तब कुरु-पितामहने कहा—‘हे महाशयो ! आपका स्वागत है । आपके दर्शनोंसे हमें बड़ा आनन्द हुआ ।’

“कुछ देर ठहरकर भीष्म फिर बोले—‘हे नरेशवृन्द ! हमारे सिरके नीचे खाली हैं, इससे हमारे लिये एक तकिया ला दीजिये ।’

“राजोंने उसी क्षण कई कोमल कोमल बहुमूल्य तकिये ला दिये । परन्तु भीष्मने उन्हें न लेकर अर्जुनकी तरफ़ देखा और कहा—‘बेटा ! तुम्ही हमें सिरके नीचे रखने योग्य कोई चीज़ दो ।’

“आखिरीमें आंसू भरे हुए अर्जुनने पितामहके मनकी बात जान ली । गाण्डीव उठाकर भीष्मके मस्तकके नीचे तीन वाण उन्होंने मारे । वे सिर और ज़मीनके बीच ठहर गये । उन्होंने तकियेका काम दिया । जैसे शर-शय्या थी, वैसा ही शरोंका तकिया बन गया । भीष्म यही चाहते थे । ऐसा तकिया पाकर वे बहुत सन्तुष्ट हुए और अर्जुनको हृदयसे आशीर्वाद दिया ।

“भीष्म बड़े ही दृढ़-स्वभावके और धीरे पुरुष थे। शत्रुओंके सैकड़ों घावोंसे उन्हें जो असह्य पीड़ा हो रही थी उसे ज़रा भी प्रकट न करके शान्त भावसे उन्होंने पीनेके लिये पानी मांगा। सब लोग चारों ओर दौड़ पड़े। अनेक प्रकारकी खाने पीनेकी सामग्री और ठंडा जल लाया गया। परन्तु इन चीजोंसे पितामहको सन्तोष न हुआ देख, अर्जुनने फिर उनके मनकी बात जानकर, उनके दक्षिण तरफ़की ज़मीनको वारुणाक्ष द्वारा पातालतक छेद दिया। उससे अत्यन्त शीतल, विमल और स्वादिष्ट दिव्य जलकी धारा निकली। उसने भीष्मकी इच्छा पूर्ण कर दी। उसे देख उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अर्जुनकी बहुत प्रशंसा की।

“इसके अनन्तर, शरीरके भीतर धंसे हुए बाणों और दूसरे प्रकारके अस्त्रोंको निकालने और महरमपट्टी करनेवाले बहुतसे कुशल वैद्य बुलाये गये। वे लोग नाना प्रकारके यन्त्र और दवायें आदि लेकर भीष्मके पास उपस्थित हुए। उन शल्योद्धार-कुशल वैद्योंको देखकर भीष्म बोले—‘हे दुर्योधन ! तुम इन लोगोंका अच्छी तरह आदर सत्कार करके विदा कर दो। क्षत्रियोंको जिस गतिकी वाञ्छा होती है उसी गतिको हम प्राप्त हुए हैं। हमारे लिये दवा-पानीकी ज़रूरत नहीं। हमारी मृत्यु हो जानेपर इसी शर-शय्याके साथ हमारे शरीरको दग्ध करना। जिस समय घायल होकर हम युद्धमें गिरे हैं उस समय सूर्य दक्षिण दिशामें थे। हमने वर पाया है कि विना इच्छाके हमारी मृत्यु नहीं होगी। अतएव जबतक सूर्य दक्षिण दिशाको न छोड़ देंगे तबतक हम शरीर न छोड़ेंगे।’

“शस्त्र-वैद्योंके चले जानेपर भीष्मने दुर्योधनसे कहा—‘बेटा ! तुम्हें चाहिये कि तुम क्रोधको छोड़ दो। जीसे हमारी यही इच्छा

है कि हमारे मरने ही से युद्ध समाप्त हो जाय । हम चाहते हैं कि हमारी मृत्युके अनन्तर प्रजाको शान्ति-सुख मिले । राजा लोग प्रसन्न होकर परस्पर एक दूसरेको गलेसे लगावें, पिता पुत्रसे मिलें, भाई भाईसे मिलें, और कुटुम्बी कुटुम्बियों से मिलें । इससे, हे राजन् । तुम ईर्ष्या-द्वेष छोड़ो । मनकी मलीनता दूर कर दो । प्रसन्न हो । पाण्डवोंको आधा राज्य देकर उनके साथ सन्धि कर लो ।’

“शत्रुओंके गहरे घाव लगनेके कारण भीष्म पितामह विकल हो रहे थे । इससे और अधिक वे न बोल सके । उन्होंने आंखें बन्द कर लीं और योगियोंकी तरह प्राणोंको ब्रह्मरन्ध्रमें खींचकर चुप हो गये । पाण्डवों कौरवों और अन्य राजा लोगोंने तीन दफे उनकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया । फिर उनके चारों तरफ़ खाँदें खोदकर और संतरी मुक़रर करके सब लोग उदास मन अपने अपने डेरेको लौट आये ।

“जिस मनुष्यकी मृत्यु निकट होती है उसे दवा नहीं अच्छी लगती । ठीक यही हाल दुर्योधनका समझिये । उन्हें भीष्मका उपदेश विलकुल ही नहीं रुचा । इधर महावीर कर्णने जब भीष्मकी शर-शय्याका हाल सुना तब वे पहला वैर भूल गये और तुरन्त ही उनके पास आकर उपस्थित हुए । आंखें बन्द किये हुए, लोहसे सरावोर आखिरी शय्यापर लेटे कुरु-पितामहको देखकर दयावान् कर्णका कण्ठ भर आया । वे उनके पैरोंपर गिरकर कहने लगे—‘हे महात्मा । आपकी आंखोंके सामने होनेपर आप सदैव जिसपर अप्रसन्न होते थे वही राधेय कर्ण आपको प्रणाम करता है ।’

“यह वचन सुनकर भीष्मने बड़े कष्टसे आंखें खोलीं । उन्होंने देखा कि कर्णके सिवा वहां और कोई नहीं है । तब उन्होंने

संतरियोंको दूर हटाकर कर्णको, पिताकी तरह, दाहने हाथसे छातीसे लगाया और बड़े प्रेमसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

‘हे कर्ण ! यद्यपि तुमने सदा ही हमारे साथ स्पर्धा की है—सदा हमसे ईर्ष्या-द्वेष रक्खा है—तथापि इस समय यदि तुम हमारे पास न आते तो हम निश्चय ही बहुत दुखी होते । हमने यह बात बहुत विश्वासपात्र मार्गसे सुनी है कि तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो । हम सच कहते हैं, हमने कभी तुमसे द्वेष नहीं किया । तुम पाण्डवोंका विरोध करते थे इसलिये हम कभी कभी कठोर वचन कहकर राहपर लाने की यत्न करते थे । हम चाहते थे कि तुम्हें अपने स्वरूपका—अपने तेजका ज्ञान हो जाय । हम इस बातकी अच्छी तरह जानते हैं कि तुम बड़े वीर और बड़े धर्मात्मा हो । पहले जो तुमपर हमारा क्रोध था वह आज विलकुल जाता रहा । हे वीरशिरोमणि ! पौरुष और प्रयत्नकी अपेक्षा भाग्य ही बलवान् है । इससे और वृथा युद्ध करनेसे क्या लाभ ? तुम यदि अपने सहोदर भाई पाण्डवोंके साथ मिल कर लोगे तो यह सारा वैरभाव मिट जायगा, अतएव, हमारी इच्छा है कि हमारे प्राणोंके खर्चसे ही इस युद्धकी समाप्ति हो जाय ।’

“कर्ण बोले—‘हे पितामह ! आपने जो कुछ कहा उसमें कुछ भी संदेह नहीं । सचमुच ही हम कुन्तीके पुत्र हैं । किन्तु कुन्तीने पैदा होते ही हमें त्याग दिया, सूत अधिरथने हमें पड़ा देखा दया करके बड़े प्रेमसे हमारा लालन-पालन किया । इसके बाद दुर्योधनकी कृपासे हम बड़े हुए । हमारे ही कारण इस विषम वैरकी आग जली है । इससे आप हमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेकी आज्ञा दीजिये । बीमार होकर मरना क्षत्रियोंकी कभी उचित

नहीं। इसीसे इन महापराक्रमी पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी हमने प्रतिज्ञा की है।’

“तब भीष्मने कहा—‘हे कर्ण। यह दारुण बैर मेट देना यदि विलकुल ही असम्भव हो तो हम आज्ञा देते हैं कि स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे तुम अहङ्कार छोड़कर युद्ध करो। हमने पहले ही से इस युद्धको रोकनेकी बहुत चेष्टा की; पर हमारी सारी चेष्टायें व्यर्थ गईं।’

“भीष्मका उपदेश सुन चुकनेपर कर्ण उनको प्रणाम करके दुर्योधनके पास गये।”

हिन्दी भाषा

[बाबू बालमुकुन्द गुप्त (संवत् १९२२-१९६४ वि०)—ये एक प्रतिभाशाली निपुण सम्पादक तथा गद्य और पद्य दोनोंके उच्चकोटिके लेखक थे। फारसी उर्दूके भी पंडित थे। पठनकालसे ही ‘अवधपत्र’ आदि उर्दू पत्रोंमें लेख दिया करते थे। लेख लिखनेमें ये प्रख्यात हो गये और सं० १९४४ में ‘अखबार-ए-चुनार’के सम्पादक नियत हुए। यहीसे इनका साहित्यिक जीवन आरम्भ हुआ। एक ही वर्ष बाद लाहौरके ‘कोहीनूर’के सम्पादक हुए। कुछ दिनों बाद हिन्दीमें लेख लिखने लगे, और सं० १९४६ में कालाकाकरके ‘हिन्दीस्थान’के सहकारी सम्पादक हुए। इसके बाद कई वर्षोंतक हिन्दी बगवासीके सम्पादक रहे। सं० १९५५ में ‘भारतमित्र’के सम्पादनका भार लिया और थोड़े ही दिनोंमें उसे भारतका प्रधान हिन्दी पत्र बना दिया। हिन्दी भाषाके भाण्डारमें कुछ ऐसे अनमोल रत्न छिपे हैं जिन्होंने इन्हें अमर बना रखा है। इनकी भाषा

बड़ी ही सरल, सरस, स्वच्छ, चठकोली और दिलमें चुभनेवाली होती थी। इनकी शैली ही निराली है। इनके लेखोंमें व्यंगके साथ साथ मनोरंजनकी सामग्री भी कम नहीं मिलती। ये बड़े ही मिलनसार और हास्यप्रिय थे। हास्यप्रियताके नमूने भी इनके लेखोंमें बहुत हैं। राजनैतिक और सामाजिक विषयोंपर इनके लेख अनोखे ढंगके होते थे। इनका 'शिवशम्भुका चिह्न' बड़ा प्रसिद्ध है। समालोचक भी ये अद्वितीय थे। इनकी समालोचनासे उस समयके प्रायः सभी लेखक डरते थे, क्योंकि उचित बात कहनेमें ये ज़रा भी नहीं हिचकते, और बड़ी निर्दयताके साथ उनके दोषोंकी सर्वसाधारणके सामने प्रकट कर देते थे। केवल ४२ वर्षकी अवस्थामें हिन्दी-प्रेमियोंको शोकाकुल कर परलोकवासी हुए।]

वर्तमान हिन्दी भाषाकी जन्मभूमि दिल्ली है। वही ब्रजभाषासे वह उत्पन्न हुई और वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया।

आरम्भमें उसका नाम रेखता पडा था। बहुत दिनोंतक यही नाम रहा। पीछे हिन्दी कहलाई। कुछ और पीछे उसका नाम उर्दू हुआ। अब फारसी भेषमें अपना उर्दू नाम ज्योंका त्यों बना हुआ रखकर देवनागरी वस्त्रोंमें हिन्दी भाषा कहलाती है।

हिन्दीके जन्मसमय उसकी माता ब्रजभाषा खाली भाषा कहलाती थी। क्योंकि वही उस समय उत्तर भारतकी देशभाषा थी। पर बेटीका प्रताप शीघ्र इतना बढ़ा कि माताके नामके साथ ब्रज शब्द जोड़नेकी आवश्यकता पड़ी। क्योंकि कुछ बड़ी होकर बेटी भारतवर्षकी प्रधान भाषा बन गई और माता केवल एक प्रान्तकी भाषा रह गई। अब माता ब्रजभाषा और पुत्री हिन्दी भाषा कहलाती है।

यद्यपि हिन्दीकी नींव बहुत दिनोंसे पड़ गई थी पर उसका जन्मकाल शाहजहाँके समयसे माना जाता है। मुगल सम्राट्

शाहजहाँके बसाये शाहजहाँनाबादके बाजारमें इसका जन्म हुआ। कुछ दिनोंतक वह निरी बाजारी भाषा बनी रही। बाजारमें जन्मग्रहण करनेसे ही इसका नाम उर्दू हुआ। उर्दू तुर्की भाषाका शब्द है। तुर्कीमें उर्दू लश्कर या छावनीके बाजारको कहते हैं। शाहजहानी लश्करके बाजारमें उत्पन्न होनेके कारण जन्मस्थानके नामपर उसका नाम उर्दू हुआ।

उसका नाम हिन्दी भी मुसलमानोंका रखा हुआ है। हिन्दी फ़ारसी भाषाका शब्द है। उसका अर्थ है हिन्दीसे सम्बन्ध रखनेवाली अर्थात् हिन्दुस्थानकी भाषा। ब्रजभाषामें फ़ारसी, अरबी, तुर्की आदि भाषाओंके मिलनेसे हिन्दीकी सृष्टि हुई। उक्त तीनों भाषाओंको विजेता मुसलमान अपने देशोंसे अपने साथ भारतवर्षमें लाये थे। सैकड़ों साल तक मुसलमान इस देशमें फ़ारसी बोलते रहे। फ़ारिसके विजेताओं ही का इस देशमें अधिक बल रहा है। अरबी, तुर्की बोलनेवाले बहुत कम थे। जब इन लोगोंकी कई पीढ़ियां इस देशमें, बसते हो गईं तो इस देशकी भाषाका भी उनपर प्रभाव हुआ। भारतकी भाषाएं उनकी भाषामें मिलने लगीं और उनकी भाषा भारतकी भाषामें युक्त होने लगी। जिस समय यह मेल होने लगा था उसे अब छः सौ वर्षसे अधिक हो गये। आरम्भमें उक्त मेलजोल सामान्य सा था। धीरे धीरे इतना बढ़ा कि फ़ारसी और ब्रजभाषा दोनोंके संयोगसे एक तीसरी भाषा उत्पन्न हो गई। उसका नाम हिन्दी या उर्दू जो चाहिये सो समझ लीजिये। फ़ारसी भाषाके कवियोंने इस नई भाषाको शाहजहानी बाजारमें अनाथावस्थामें इधर उधर फिरते हुए देखा। उन्हें इसकी भोली भाली सूरत बहुत पसन्द आई। वह उसे अपने घर ले जाकर

पालने लगे। उन्होंने ही उसका नामकरण किया और उसे रेखता कहकर पुकारने लगे। औरङ्गजेबके समयमें उक्त भाषामें कविता होने लगी। मुहम्मद शाहके समयमें उन्नति हुई और शाहे आलम सानीके समयमें यहाँतक उन्नति हुई कि बहुतसे अच्छे कवियोंके सिवा स्वयं बादशाह उक्त भाषामें कविता करने लगे और एक नामी कवि कहलाये। कितने ही हिन्दू कवि भी इस भाषामें कविता करने लगे। साधु महात्माओंके कुटीरतक भी इसका प्रचार होने लगा। वह अपने भगवद्भक्तिके पद इस भाषामें रचने लगे।

मुसलमानी अमलदारीमें इस भाषामें केवल फ़ारसी कविताके ढंगके कविता होती रही। गद्यकी उस समय तक कुछ ज़रूरत न पड़ी। जब अंगरेजोंके पाँव इस देशमें जम गये और मुसलमान राज्यका चिराग ठंडा होने लगा तब इस भाषामें गद्यकी नींव पड़ी। गद्यकी पहली पोथी सन् १७६८ ई०में लिखी गई। सन् १८७२ ई०में जब दिल्लीमें 'बागोबहार' नामकी पोथी तैयार हुई तो गद्यकी चर्चा कुछ बढ़ी, यहाँतक कि हिन्दुओंका भी इधर ध्यान हुआ। कविवर लल्लूलालजी आगरा-निवासीने अगले ही वर्ष सन् १८०३ ई०में प्रेमसागर लिखा। मुसलमान लोग अपनी पोथियां फ़ारसी अक्षरोंमें लिखते थे। लल्लूलालजी ने देवनागरी अक्षरोंमें अपनी पोथी लिखी। पर दुखकी बात है कि लल्लूजीके पीछे बहुत कालतक ऐसे लोग उत्पन्न न हुए जो उनके दिखाये मार्गपर चलते और उनके किए हुए कामकी उन्नति करते। इसीसे उनका काम जहाँका तहाँ रह गया। देवनागरीके अक्षरोंमें प्रेमसागरकी ढंगकी नई नई रचनाएँ करनेवाले लोग साठ सालतक फिर दिखाई न दिये। उधर फ़ारसी अक्षरों वाले उन्नति करते गये। गद्यमें

उन्होंने और भी कितनी ही पोथियां लिखीं। पीछे सन् १८३५ ई०में उनके सौभाग्यसे सरकारी दफ्तरोंमें फारसी अक्षरोंके साथ हिन्दी (उर्दू) जारी हुई। इससे नागरी अक्षरोंको बड़ा धक्का पहुँचा। उनका प्रचार बहुत कम हो चला। जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे वह फारसी अक्षर सीखनेपर विवश हुए। फल यह हुआ कि हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई। हिन्दी उस भाषाका नाम रहा जो टूटी फूटी चालपर देवनागरी अक्षरोंमें लिखी जाती थी। न वह नियमपूर्वक सीखी जाती थी और न उसके लिखनेका कोई अच्छा ढंग था। कविता करनेवाले ब्रज-भाषामें कविता करते हुए पुरानी चालपर चले जाते थे जो अब भी एकदम बन्द नहीं हो गई है। गद्य या तो आपसकी चिट्ठी पत्रियोंमें बड़े गंवारी ढंगसे जारी था या कोई एक साथ गुमनाम वेढगी पोथीमें दिखाई देता था।

पचास सालसे अधिक हिन्दीकी यही दशा रही। उसका नाम निशान मिटनेका समय आ गया। उसके साथ ही साथ नागरी अक्षरोंका प्रचार एकदम उठ चला। देवनागरी अक्षरोंमें एक छोटी मोटी चिट्ठी भी शुद्ध लिखना लोग भूल चले थे। उर्दूका जोर बहुत बढ़ चला था। अचानक समयने पलटा खाया। कुछ फारसी अङ्गरेजी पढ़े हुये हिन्दू सज्जनोंके हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि फारसी अक्षरोंका चाहे कितना ही प्रचार हो जाय सर्वसाधारणमें फैलनेके योग्य देवनागरी अक्षर ही हैं। स्वर्गीय राजा शिवप्रसादकी चेष्टासे काशीसे बनारस अखबार निकला। उसकी भाषा उर्दू और अक्षर देवनागरी थे। राजा शिवप्रसाद द्वारा देवनागरी अक्षरोंका और भी बहुत कुछ प्रचार हुआ। पीछे

काशीवालोंने हिन्दी भाषाके सुधारकी ओर भी ध्यान दिया और सुधाकर पत्र निकाला। पर वह चेष्टा भी विफल हुई। अन्तको आगरा-निवासी स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंहने शकुन्तलका हिन्दी अनुवाद किया। अच्छी हिन्दी लिखनेवालोंको फिरसे एक मार्ग दिखाया, यद्यपि उसका शुद्ध अनुवाद २५ साल पीछे सन् १८८८ ई०में प्रकाशित हुआ जब कि हिन्दीकी चर्चा बहुत कुछ फैल चुकी थी, तथापि राजा शिवप्रसादके गुटकेमें मिल जानेसे उसके पहले अनुवादका बहुत प्रचार हो चुका था। सन् १८७८ ई० में उक्त राजा साहबने रघुवंशका गद्य हिन्दीमें अनुवाद किया उसकी भूमिकामें वह लिखते हैं—

“हमारे मतमें हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी है। हिन्दी इस देशके हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहांके मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिन्दुओंकी बोलचाल है। हिन्दीमें संस्कृतके पद बहुत आते हैं, उर्दूमें अरबी फ़ारसीके परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी फ़ारसीके शब्दों बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषाको हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी फ़ारसीके शब्द भरे हों। इस उल्लेखमें यह एक नियम रक्खा गया है कि कोई पद अरबी फ़ारसीका न आये।”

राजा साहब उर्दू फ़ारसी भली भांति जानते थे। तिसपर भी हिन्दी और उर्दूको केवल इसलिए दो न्यारी बोली बताते थे कि एकमें संस्कृतके शब्द अधिक होते हैं और दूसरीमें फ़ारसी अरबीके शब्द। अस्तु, इस कथनसे यह स्पष्ट है कि हिन्दी और उर्दूमें केवल संस्कृत आदिके शब्दोंके लिये भेद है और सब प्रकार दोनों एक हैं। साथ ही यह भी विदित होता है कि उर्दूसे उस समय कुछ शिचित्त

हिन्दू घबराने लगे थे और समझने लगे थे कि फ़ारसी अरबी शब्दोंके बहुत मिल जानेसे हिन्दी हिन्दी नहीं रही कुछ और ही हो गई। हिन्दुओंके काममें वह नहीं आ सकती। ईश्वरकी इच्छा थी कि हिन्दीकी रक्षा हो इसीसे यह विचार कुछ शिक्षित हिन्दुओंके हृदयमें उसने अंकुरित किया। गिरती हुई हिन्दीको उठानेके लिये उसकी प्रेरणासे स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रका जन्म हुआ।

हरिश्चन्द्रने हिन्दीको फिरसे प्राणदान किया। उन्होंने हिन्दीमें अच्छे समाचार-पत्र, मासिक पत्र आदि निकाले और उत्तम लेखों, नाटकों और पुस्तकोंसे इसका गौरव बढ़ाना आरम्भ किया। यद्यपि उन्होंने बहुत थोड़ी आयु पाई और सतरह अठारह वर्षसे अधिक हिन्दीकी सेवा नहीं कर सके, तथापि इस अल्पकाल ही में हिन्दी-संसारमें युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके सामने ही कितने हिन्दीके अच्छे लेखक हो गये थे। कितने ही समाचार-पत्र निकलने लगे थे। जिस हिन्दीकी ओर पहले लोग आंख उठाकर भी न देखते थे वह सबकी आंखोंका तारा हो चली थी। हरिश्चन्द्रने हिन्दीके लिये क्या किया यह बात आगे कही जायगी। यहां केवल इतना ही कहना है कि आज उन्हींकी चलाई हिन्दी सब जगह फैल रही है। उन्हींकी हिन्दीमें आजकलके सामयिक-पत्र निकलते हैं और पुस्तकें बनती हैं। दिन पर दिन लोग शुद्ध हिन्दी लिखना और शुद्ध देवनागरी लिपिमें पत्र-व्यवहार करना सीखते जाते हैं। यद्यपि बङ्गाली, मराठी आदि भारतवर्षकी अन्य कई भाषाओंसे हिन्दी अभी पीछे है तथापि समस्त भारतवर्षमें यह विचार फैलता जाता है कि इस देशकी प्रधान भाषा हिन्दी ही है और वही यहांकी राष्ट्रभाषा होनेके योग्य है। साथ साथ लोग यह भी मानते जाते हैं कि सारे

भारतवर्षमें देवनागरी अक्षरोंका प्रचार होना उचित है। हरिश्चन्द्रके प्रसादसे यह सब हुआ और आजकी चर्चा करनेका अवसर मिला।

इस समय हिन्दीके दो रूप हैं। एक उर्दू और दूसरा हिन्दी। दोनोंमें केवल शब्दका भेद नहीं लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता तो दोनों रूप मिलकर एक हो जाते। यदि आदिसे फ़ारसी लिपिके स्थानमें देवनागरी लिपि रहती तो यह भेद न होता। अब भी लिपि एक होनेसे भेद मिट सकता है। पर जल्द ऐसा होनेकी आशा कम है। अभी दोनों रूप कुछ कालतक अलग अलग अपनी अपनी चमक दमक दिखानेकी चेष्टा करेंगे। आगे समय जो करावेगा वही होगा। बड़ी कठिनाई यह है कि दोनों एक दूसरेको न पहचानते हैं न पहचाननेकी चेष्टा करते हैं। इससे बड़ा भारी अन्तर होता चला जाता है। जो लोग उर्दूके अच्छे कवि और ज्ञाता हैं वह हिन्दीकी ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझते। इसीसे देवनागरी अक्षर भी नहीं सीखते और भारतवर्षके साहित्यसे निरे अनभिज्ञ हैं, अरब और फ़ारिसके साहित्यकी ओर खिंचते हैं। साथ साथ भारतवर्षके साहित्यसे घृणा करते और जी चुराते हैं। उधर हिन्दीके प्रेमी उर्दूकी ओर कम दृष्टि रखते हैं और उर्दूवालोंको अपनी ओरकी बातें ठीक ठीक समझानेकी चेष्टा नहीं करते। यदि दोनों ओरसे चेष्टा हो तो इस भाषाकी बहुत कुछ उन्नति हो सकती है और दोनोंमें मेल भी बहुत बढ़ सकता है। मैं इस लेख द्वारा दोनों ओरके लोगोंको एक दूसरेकी बातें ठीक ठीक समझा देनेकी चेष्टा करूंगा। इसमें मेरा अधिक श्रम हिन्दीवालोंके लिये होगा।

हिन्दी क्या है ?

[बाबू राधाकृष्णदास (संवत् १९२२-१९६४ वि०)—ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीके फूफेरे भाई थे जिन्होंने इन्हें हिन्दी लिखनेको उत्साहित किया था । सतीप्रताप, राजसिंह आदि भारतेन्दुजीके अधूरे ग्रन्थोंको इन्होंने पूरा किया । इन्होंने भारतेन्दु, सूरदास, नागरीदास और विहारीलालकी सचित्र जीवनिया लिखी है । ये चट्टीके भी विद्वान् थे । इनके पद्य हिन्दी और चट्टी दोनों बड़े सुन्दर होते थे । गद्यकी भाषा उत्तम होती थी ।]

हिन्दोस्तान निवासी जनसाधारणकी भाषाका नाम हिन्दी है । हिन्दीके बहुत कुछ रूपान्तर हुए और वर्तमान कालमें भी बहुतसे भेद हैं । हिन्दुस्तानकी बनावट पृथ्वीके सब देशोंसे कुछ विलक्षण ही है, ध्यान देकर देखियेगा तो स्पष्ट जान पड़ेगा मानों परमेश्वरने संसारको बनाकर इस देशको सबका एग्लिविशन (प्रदर्शनी) बनाया है । इस देशके जितने खंड हैं, उतनी ही चाल, उतने ही जुदे जुदे जलवायु, प्रकृति, सारी पृथ्वीका नमूना यहां मिलता है । अरबदेश सी गर्मी और रेगिस्तान इस देशमें देख लीजिये, लैपलैण्डसी सर्दी इस देशमें अनुभव कर लीजिये, काबुलके मेवे यहां लीजिये, संसार भरके अन्न यहां खाइये, गोरेसे गोरे कालेसे काले वीरशिरोमणि, मारतोंके पीछे भागतोंके आगे, सभी प्रकृति सभी आकारके मनुष्य यहां हैं । काश्मीर भी इसी देशमें है और मारवाड़का रेगिस्तान भी यहीं । इन्हीं कारणोंसे यहांकी भाषाके भी बहुतरे भेद है । दूसरे और देशोंमें इसके विरुद्ध एक ही सा जलवायु एकही सा रूप आकार स्वभाव भाषा फलफल अन्न सब

एकही से पाये जाते हैं। इसलिये और देशोंके साथ मिलान करके इस देशका अनुमान करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है, परन्तु क्या इससे यही सिद्ध हो गया या यही मान लेना चाहिये कि इस देशकी कोई एक भाषा नहीं है? यदि आप ध्यान देकर देखेंगे तो अवश्य ही सबके भीतर मूल एक ही पावेंगे। सब भेदान्तरोंको एकही सूत्रमें बंधा पावेंगे। वह सूत्र कौन है? हिन्दीमें चाहे जिसका भेद देखिये, चाहे उसे बंगालिनके भेषमें देखिये, चाहे पारसियोंकी साड़ी और रुमाल पहिरे देखिये, चाहे पाश्चिमात्य बड़े बड़े घांघरे और ओढ़नीके धूँघटमें पाइये, और चाहे पायजामा और दुपट्टेकी पोशाक पहने यवनगृहमें देखिये, परन्तु तनिक भी विचारपूर्वक आप जिस समय देखेंगे अनायास पहिचान लेंगे—यह तो हिन्दी है। निदान हिन्दुस्तानकी यदि कोई एक भाषा हो सकती है तो वह हिन्दी ही है। यद्यपि हिन्दी और उर्दू ये दो भाषा इस समय प्रचलित हैं और सदासे इन दोनोंमें भगड़ा चला ही आता है, परन्तु यथार्थमें उर्दू और कुछ नहीं है केवल हिन्दी ही है। भेद इतना ही है कि हिन्दीसे और जितनी भाषा बनी है वे सीधे अक्षरोंमें अर्थात् देवनागरी अक्षरोंसे निकले अक्षरोंमें लिखी जाती हैं और उर्दू उलटे अक्षरोंमें, अर्थात् फ़ारसी अक्षरोंमें, लिखी जाती है। यद्यपि उर्दूमें फ़ारसीके कठिन शब्दोंको मिलाकर लोग इतनी कठिन भाषा बना डालते हैं जितनी कि हिन्दीको लोग संस्कृत शब्दोंसे, परन्तु यथार्थ रूप उर्दूका देखिये तो सिवाय हिन्दीके और कुछ न पाइयेगा, क्रिया तो सब हिन्दीकी निर्विवाद हुई है, परन्तु शब्द भी हिन्दीके बहुतसे मिलेंगे।

यह साधारण नियम है कि जब जो राजा होता है और जो

उसकी भाषा होती है तब वही प्रधानता प्राप्त करती है। इसीसे मुसलमान बादशाहोंके समय हिन्दीमें बहुतसे फ़ारसी शब्द ऐसे मिलजुल गये कि अब वे मानों हिन्दीके ही जान पड़ते हैं। किसी भांति वे हिन्दीसे अलग नहीं किये जा सकते। यहांतक कि अच्छे अच्छे हिन्दीके लेखक भी उन्हें बेधड़क लिख जाते हैं और कभी उनपर ध्यान भी नहीं जाता। यह कुछ आश्चर्य नहीं है क्योंकि मुसलमानी राज्य तो लगभग हजार वर्षतक यहां रहा है। अंगरेज़ी राज्यको अभी डेढ़ ही सौ वर्षके लगभग हुए, परन्तु अंगरेज़ीके बहुतसे शब्द ऐसे मिलजुल गये हैं कि अब वे हिन्दीहीके जान पड़ते हैं—जैसे रेल, टेशन, लालटेन, टमटम इत्यादि। परन्तु यथार्थमें देखिये तो हिन्दोस्तानकी भाषा हिन्दी ही पाइयेगा। कुछ लोगोंका यह कथन है कि प्रायः ग्रामीण लोग उर्दू ही समझ सकते हैं, संस्कृतके शब्द मिली हिन्दी नहीं समझ सकते, परन्तु यह ठीक नहीं है। कौन ऐसा हिन्दू है जो साधारणतः रामायणको न समझ सकता हो? इसमें सन्देह नहीं कि वे संस्कृतके कठिन शब्द नहीं समझ सकते परन्तु साथही वे उर्दूके भी कठिन शब्द नहीं समझ सकते। उनके लिये जैसे महाशय और महोदय है, वैसे ही जनाब और हुजूर है। उनको तो यदि आप राउरे या राउर कहकर सम्बोधन कीजिये तो वे भट समझ जायंगे, परन्तु यह शब्द कहाँसे आया? क्या यह संस्कृतके 'रावल' शब्दका अपभ्रंश नहीं है? योंही जब आप ध्यान देकर देखेंगे तो जनसाधारणकी बोलचालमें अधिकतर ठेठ हिन्दीके शब्दोंको या संस्कृतके बिगड़े शब्दोंको पावेंगे और जो फ़ारसीके शब्द उनमें मिलेंगे वे भी ऐसे ही होंगे जो अब हिन्दीके साथ ऐसे मिल गये हैं मानों वे

हिन्दीहीके है। हिन्दीकी चिट्ठीपत्रीकी प्रशस्ति, बहीखातेकी लिखावट आदि देखिये, सबमें आप मुख्य शब्द हिन्दी ही संस्कृतके पाइयेगा। आप हिन्दुओंकी बात जाने दीजिये, मुसलमानी महल्ले या गांवमें चलिये और साधारण मुसलमानोंसे दस्तखत कराना आरम्भ कीजिये देखिये जितने लिखेपढ़े मुसलमान मिलेंगे उनमें अधिकता हिन्दीहीमें दस्तखत करनेवालोंकी होगी। डाकखानोंमें देखिये तो अधिक चिट्ठियां हिन्दी ही सिरनामेकी मिलेंगी। पुस्तकोंमें देखिये तो रामायणके बराबर किसी उर्दू पुस्तककी बिक्री न होगी, बरंच उर्दू अलिफलैलासे हिन्दीमें उसका अनुवाद अधिक विकता है।

हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि भिन्न भिन्न प्रकृति और जल-वायुके कारण भाषामें भी भिन्नता पायी जाती है, परन्तु यथार्थमें सब भाषा हिन्दीहीके रूपान्तर हैं। सब प्रान्तके निवासी कुछ कठिनतासे हिन्दी बोलीको समझ सकते हैं और अधिकांश लोग टूटी फूटी हिन्दी बोल भी लेते हैं, परन्तु हिन्दोस्तानमें प्रतियोजन अर्थात् बारह कोसपर बोली बदलती जाती है और इसीसे बहुतसे रूप हो गये हैं। ब्रजसे चाहे जिस ओर चलिये, बराबर थोड़ा थोड़ा भेद पाते जाइयेगा। यहांतक कि बङ्गाल पहुंचते पहुंचते वह बङ्गला हो जायगी। और उधर दक्षिण पहुंचते पहुंचते गुजराती और महाराष्ट्री हो जायगी। परन्तु क्रमसे मिलाते चलिये तो बहुत स्पष्ट भेद जान पड़ेगा। निदान हिन्दीके हिन्दोस्तानकी भाषा होनेमें कोई सन्देह नहीं है, पर इसके बहुतसे भेद हो गये हैं, जिनमें चार मुख्य हैं, १—पूरबी—बनारस प्रान्तकी, २—कनौजी—कानपुर प्रान्तकी, ३—ब्रजभाषा—आगरा मथुरा प्रान्तकी, ४—खड़ी बोली—सहारनपुर मेरठ प्रान्तकी।

यह सब भेद तो हुए बोलचाल और प्रादेशिक हिन्दीके । अब हमें उस हिन्दीकी ओर ध्यान देना चाहिये जो सभ्य समाज, राज्यद्वार वा साहित्यमें बरती जाती हो, और जिससे सारे देशसे सम्बन्ध हो । वह खड़ी बोली है । वर्तमान समयमें उर्दू और हिन्दी दोनों ही सभ्य भाषा खड़ी बोलीहीके भेद हैं ।

सारे संसारकी यह रीति है कि जनसाधारणकी बोलचालसे और साहित्यकी भाषासे बड़ा भेद रहता है । साहित्यकी भाषा ऊंचे दर्जेकी रहती है , अतएव हम लोग हिन्दी भाषा उसीको कहेंगे जिसमें शुद्ध शब्द हों और जिसमें विद्या-सम्बन्धी किसी विषयके लिखनेमें कठिनता न हो । जब कि अंगरेज़ोंके बच्चोंके लिये व्याकरण आदि पढ़नेकी आवश्यकता होती है तो हिन्दोस्तानियोंको हिन्दी ग्रन्थ समझनेके लिए हिन्दी पढ़नेकी आवश्यकता हुई तो इसमें आश्चर्य क्या है ? पर हां, साथही हम यह अवश्य कहेंगे कि कचहरीकी भाषा ऐसी ही सहज रहनी चाहिये जो सर्वसाधारणकी समझमें यथासंभव अनायास आ सके, चाहे आवश्यकतानुसार उसमें उर्दू और अंगरेज़ीके भी शब्द मिला दिये जायं ।

नाटक और उपन्यास

[बाबू गोपालराम गहमरौ (स० १८२३-वर्तमान)—कुछ दिनोंतक ये कालाकाकरके 'हिन्दीस्थान' पत्रकी संपादनमें सहायता देनेके लिये प० प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालसुकुन्द गुप्त आदि साहित्यसेविद्योके साथ रहे जिससे इनका हिन्दीप्रेम सुष्टुट हो गया। वही इन्होंने बंगला भाषा सीखी। इन्होंने कई पत्रोंका सम्पादन किया और पीछे गहमरसे 'जासूस' नामक मासिकपत्र निकाला, और बहुतसे उपन्यास लिखे। इनकी पुस्तकोंका प्रचार भी अच्छा हुआ। भाषाके विषयमें इनका कहना है कि "भाषा ऐसी नहीं होनी चाहिये कि पढ़नेवालोंको अभिधान उलटते उलटते पसीना आ जाय।"]

उपदेश जगत्का बहुत बड़ा बोझ साहित्यके इन्हीं दो अटूट और अजर पहियोंपर रहता है। ये दोनों चक्के ऐसे पक्के और प्रौढ़ हैं कि जबसे जगत्की सृष्टि हुई और उपदेशका जबसे उपयोग होने लगा तबसे ये दोनों सदा सब देशके साहित्यमें उपदेश वहनका कार्य निरन्तर करते आते हैं किन्तु तनिक भी नहीं घिसे, न नाकाम हुए।

मतलब हमारे कहनेका यह है कि जब किसी देशके मर्मज्ञानी साहित्यसेवीने देश-सुधारका काम अपने माथे उठाया तब उपदेशका काम इन्हीं दो उपन्यास और नाटकोंसे लिया है।

*

*

*

*

*

दिन भरके काम-काजसे निपटकर जब भारतवर्षके लोग अपनी मंडइयामें विश्राम करते हैं तब जिनको सदा स्वतन्त्र भावसे पेट भरना और ब्रिटिश सरकारके राम-राज्यमें नित्य अपने बाल-बच्चों

सहित दिन बितानेका सौभाग्य है अथवा जिनको पेटके निमित्त पराई सेवाके लिये पराधीन होकर परिवारसे दूर रहना और वहींके नवपरिचित हितमित्रोंमें समय काटना पड़ता है ऐसे दोनों दरजेके आदमी उस विश्रामके समय जब साथमें दो चार और रहते हैं तब यह बात उठती है कि भाई कोई किस्सा कहो। इसीको देहाती कहते हैं अच्छा एक कहानी कहो। होश सभाले हुए बालक बालिका, माता पिता, काका ताऊसे कहते हैं—ए ओ कहानी कह।

बड़े, बूढ़े, भाई बहन या पड़ोसी जिनसे यह अनुरोध किया जाता है वह एक राजा या सात राजा अथवा राजाकी बेटी या राजाके कुंवरकी कहानी कहते हैं। उन कहानियोंमें करुणा, वीर, शान्त, वियोग, मिलन, रोना, गाना, भयानक, रुद्र सब आते हैं। किस्सा कहनेवाले ऐतिहासिक हुए तो राजा हरिश्चन्द्रकी कहानी, गोपीचन्द, योगी भरथरीका किस्सा, रसिया हुए तो चार यार छबीली भठियारीका किस्सा, कहनेवाला मसखरा हुआ तो वज्र मूर्ख अहीरोंका किस्सा होने लगा, जिनमेंसे एकने ससुराल जानेके लिए माताका बतलाया नाकके सामनेका सीधा रास्ता तै करते हुए बीचमें ताड़का पेड़ देखकर ऊपर चढ़ जाना और सीधा उतरकर आगे बढ़ना तो ठीक समझा था।

कहीं कहनेवाले पुराणके ज्ञाता हुए तो सीता वनवासकी कथा, वसुदेव देवकीकी कथा या ऋषि उद्दालककी दातव्यता कहने लगे। जो जिस ढंगका हुआ वह उसी तरहका ऐतिहासिक वा कल्पित सुना अथवा समझाया हुआ किस्सा कहने लगता है।

उन कहानियोंमें कोई बिलकुल सच्चे सत्य हरिश्चंद्र, राम लक्ष्मण

या कतल हकीकतरायकी तरह, कोई आकाश-पाताल बांधनेवाले आल्हा ऊदलके समान, कोई आसमानमें घर बनानेवाले हातिम-तार्ङ्की तरह और कोई वीर परोपकारी नायक विजय मयकी तरह गद्य पद्य दोनोंमें होते हैं ।

बालक, बड़े, बड़े, ली, पुरुषमें इन कथाकहानियोंकी इतनी रुचि और इतना चलन क्या आप लोगोंको नहीं बतलाते कि हमारे देशमें पहिले उपन्यासोंसे उपदेश देनेका कितना अधिक प्रचार था ।

यह उपन्यासोंकी बात हुई. अब नाटकोंकी बात लीजिये । जहां दस लड़के कुछ छोटे, कुछ बड़े, कुछ अबोध, कुछ सुबोध, कुछ सच्ची अकलके, कुछ पक्की समझके जमा हुए कि जिन्होंने नाटक खेलना शुरू कर दिया ।

आप बालकोंकी दुनियांमें जाइये तो देखियेगा कि कोई दल बांधकर स्नानका नाटक खेल रहा है । एक चौतरे परसे कुछ बालक पांव फैलाकर स्नानकर रहे हैं, कोई नीचे उतरकर डुबकी लगाता है, कोई धोती उतारकर निचोड़ रहा है और कोई जलचारी मगर घड़ियाल बनकर उन्हें पकड़ता और घसीटता है । कोई चिल्लाकर भागता, कोई गिरता और कोई धूल पोंछकर उठता, कोई मदद करके जलचारीसे अपने साथीकी रक्षा करता है ।

इस भीना झपटीमें जो धक्का और चोट लगती है उसकी कुछ परवा न करके लड़के उड़के उठते हैं और धोती पहनकर सूखी ज़मीनमें जानेका नाट्य करते हैं । इसको लड़के 'बुडुआ-कुडुआका खेल' कहते हैं ।

कहीं आप देखोगे कि लड़कोंने बाज़ार बसाया है, दूकानें लगी हैं, तराजसे चीजें तौली जाती हैं । चीजोंमें देखियेगा कि

ठीकरोँके बताशे और मिट्टीके लड्डू बने है। ठीकरोँके पैसे और ठीकरोँ ही के तिलवे हैं। किसीने धूलका सत्तू और उसे बारीक छानकर मैदा बनाया है। टेलाके गुड़ और कीचड़का हलुआ बनाकर खरीद बिक्री जारीकर दी गई है। कहीं ब्राह्मणके बालक सयाने हुए तो देखियेगा उन्होंने महल्ल भरके लड़कोंको जगाकर कर्मकाण्डका स्वांग रचा है। आप पुरोहित बनकर पैता लिये संकल्प कराते फिरते हैं। पिण्डहान दक्षिणा आदि देते हुए यजमान उनका आज्ञापालन कर रहे है। कहीं रेलवे नाटक है तो चार छ लडके गाड़ी बनकर एक दूसरेसे हाथ मिलाये चल रहे है। सबसे आगेका लडका एन्जिन बन मुंहसे भभ भभ भभ भभ भभ भभ बोलता, कभी सीटी देता, कभी ठहरता, कभी सरपट दौडता है। कोई सिगनलमेन, कोई खलासी बना है, कोई घंटा बजाता है, कहीं झुड़दौड़ रची गई है तो वहां एक लडका दूसरेको अङ्गोळीकी लगाम लगाकर दौडता और डरबी और सैण्ट-जेलरकी दौड करा रहा है। कोई राजा बन न्याय करता है। दारोगा साहब असामीको पकड़कर मैजिस्ट्रेटके सामने लाते हैं और कायदेसे गवाह पेश होते हैं। इज़हार होते हैं, फैसला सुनाया जाता है। बेत लगाते है। यह सब बालकोंका साहित्य देखकर क्या नहीं समझा जाता कि आपके लड़के आपकी बेखबरीमें कैसा नाटक खेल रहे हैं ?

लड़कोंका जो दल भेड़ बकरी बनकर बाघकी लीला करता है उसका नाटक हमने पहाड़ी जगहोंमें देखा है। रोहतासगढ़, मण्डल आदि जङ्गलमय स्थानोंके लड़के बाघके शिकार और हंजुआका नाटक किया करते हैं।

कहनेका मतलब यह कि नाटक और उपन्यासोंका उपयोग हमारे देशमें सदासे है और यहां सबसे अधिक था। और उसीका यह फल है कि आज भी बालक, बड़े बूढ़े, स्त्री पुरुष सबमें उसका प्रचार है ! जिन उपन्यास और नाटकोंका प्रचार साहित्य-जगत्में इतना वाञ्छनीय है, जिनके समान उपदेशके लिये साहित्यमें दूसरा आधार ही नहीं समझा जाता उनकी इन दिनों हिंदी-साहित्यमें क्या दशा है ?

पहले हम नाटककी बात कहते हैं। हिन्दी भाषाको लक्ष्मलालजीके बाद सुंदर शृंगार देने और उसे उन्नत करनेमें जैसे हिन्दी प्रेमी, हिन्दी पाठक, हिन्दी ग्रंथकार, हिन्दी समाचार-पत्र सम्पादक और हिन्दी लेखक गोलोक विहारी भारतेन्दु हरिश्चंद्रका आन्तरिक सम्मानके साथ नाम लेते हैं और लेते रहेंगे वैसे ही उसमें नाटक साहित्यका दुर्दान्त अङ्ग पुष्ट करनेके लिये भी भारतेन्दुका नाम साहित्य जगत्में सदा सुप्रकाशमान सुवर्णाक्षरोंसे लिखा रहेगा। भारतेन्दुका यह यश जबतक सातों समुद्रमें जल रहेगा, जबतक आकाशमें नक्षत्रोंकी ज्योति दीख पड़ेगी, जबतक सूर्यचंद्रका नभमण्डलमें चक्कर लगता दिखाई देगा तबतक अटल और अनघ होकर विराजमान रहेगा।

यह बात ठीक है कि भारतेन्दुके लिखनेसे पहले भी हिंदीमें कुछ नाटक बने थे किंतु उनकी गिनती अनामिकाकी पोरीपर ही हो जाती थी।

उपन्यास भी अद्वास्पद मान्य भारतेन्दुजीने लिखे हैं। नाटक और उपन्यास ही नहीं किंतु इतिहास, काव्यादि सब विषयके

अन्य उन्होंने रचकर हिंदी-साहित्यकी सूखी बाटिका हरी भरी की और उन्हींके सजाये साहित्योद्यानमें आज हम लोग विचरण कर रहे हैं, किंतु कहनेका तात्पर्य यह कि साहित्यके अङ्गोंकी पुष्टि तो हिंदीके और सुलेखकोंने भी भारतेंदुजीसे पहले अथवा पीछे की है किंतु नाटक—जिसे नाटक कहना चाहिये—भारतेंदुजीके बाद आजतक कोई पच्चीस वर्षके बने हुआओंमें पांच भी नहीं मिलेंगे, कहते हिंदी-लेखकोंका मस्तक नीचा हो जाता है। इस अवसरपर अच्छे बुरे नाटकका नाम लेकर समालोचना करना और अमान्यके इस चढ़ते युगमें किसीसे बैर बिसाहना हमको पसंद नहीं है। इस कारण नाटकके विषयमें हम इससे आगे कहना उचित नहीं समझते।

उपदेशके लिये नाटकका जितना ऊँचा दर्जा है उपन्यासका उससे सूत भर भी नीचे नहीं है। अन्तर दोनोंमें इतना ही है कि नाटकमें सब कुछ साज सरंजाम तैयार करके ठाट बाटके साथ दर्शकोंके सामने अभिनय दिखा दिया जाता है। इस कारण अच्छे काम करनेवाले पात्रका अच्छा परिणाम और बुरे कर्मवालोंकी दुर्गति सब सामने ही देखनेका अवसर रहता है किंतु उपन्यासमें वे सब बातें नहीं होतीं, केवल बातों ही से सब घटनाओंका वर्णन करना होता है। इसी कारण नाटक दृश्य काव्य और उपन्यास अव्य काव्य कहलाता है। इस दशामें नाटक स्वभाव ही से कितना रोचक और चित्तपर असर करनेवाला होगा सो कहनेकी कुछ ज़रूरत नहीं है।

(जिस उपन्यासमें नाटकके समान कुछ ठाट बाट नहीं, कुछ लक्क दक्क सजावट नहीं, कुछ हाव भाव नहीं, केवल बातोंसे समझाना

बतलाना है उसको पाठकोंका मन अपनानेके लिये दो ही चीज़ें है एक भाषा दूसरी घटना ।)

भाषा ऐसी चुहुलदार हो कि पढ़ते ही मन फड़क उठे और घटना इतनी मन खींचनेवाली हो कि पढ़नेवाला उसीमें तन्मय हो जाय । यही लेखककी बहादुरी है । वेदांत और फिलासफीवाले सज्जन यहां तन्मय शब्द व्यवहारके लिये सुआफ़ करे । यहां ब्रह्मज्ञानके तन्मयसे मतलब नहीं है, न उपन्यास-लेखक सबको योगी बनानेका दावा रखते हैं ।

उपन्यास साहित्यका बड़ा मधुर अङ्ग है । जिस जमानेका उपन्यास है वह उपन्यास उस जमानेका इतिहास है । उस समयके देशकाल और समाजका उपन्यास मानों एलबम होता है । अच्छे और उत्तम उपन्यास जिस ज़मानेमें बनते हैं उस समयकी भीतरी बाहरी गुप्तसे गुप्त और प्रकट सब बातें उसमें मौजूद रहती हैं ।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

[राय बहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास (स० १८३२ वि०—वर्तमान)—ये बहुत दिनोंतक काशी विश्वविद्यालयमें हिन्दी विभागके अध्यक्ष थे। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभाकी स्थापनामें इन्हींका विशेष हाथ था। इन्हींके सम्पादकत्वमें 'वैज्ञानिक कोश' और 'हिन्दी-शब्दसागर' दो महत्त्वपूर्ण कोश निकले हैं। इनके 'साहित्यालोचन' और 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्रपर तथा गोस्वामी तुलसीदासपर इन्होंने जो 'आलोचनाएँ' लिखी हैं उनका साहित्यमें विशेष स्थान है। हिन्दी भाषापर इन्होंने बहुतसे निबन्ध लिखे हैं और वे सभी प्रामाणिक माने जाते हैं। इनकी भाषामें तत्सम शब्दोंकी अधिकता रहनेपर भी उसमें कठिनाई नहीं आने पाती। सूक्ष्म बातोंकी भी सौधे-सादे ढंगसे और स्पष्ट रूपसे समझा देनेमें ये सिद्धहस्त हैं। इनकी भाषा अपने ढंगकी होती है।]

*

*

*

*

*

भारतवर्षमें जब अंगरेजोंके पैर जम गए तब उन्हें अपने शासनको सुचारु रूपसे चलानेकी चिन्ता हुई। उन्होंने भारतवर्षको भारतीय सिपाहियोंकी सहायतासे जीता था। अब शासन भी भारतीयोंकी सहायतासे चलने लगा, पर शासनको ठीक ठीक चलानेके लिये शासक और शासितमें परस्पर व्यवहारकी आवश्यकता होती है और यह व्यवहार केवल भाषाके द्वारा संपन्न हो सकता है। अतएव यह आवश्यक हुआ कि शासक शासितकी भाषाका ज्ञान प्राप्त करें और शासित शासककी भाषाका। इस पारस्परिक व्यवहार-विनिमयके लिये ऐसे विद्यालयोंके स्थापनकी आवश्यकता हुई जहां अंगरेजोंको भारतीय भाषाएँ सिखाई जायं। साथ ही

ऐसा आयोजन भी अनिवार्य था, अनिवार्य ही नहीं वरन् परम आवश्यक था, जिससे भारतीयोंको अंगरेजी भाषाका ज्ञान प्राप्त कराया जाय। इस अन्योन्याश्रित व्यापारकी आवश्यकतामें भाषाका भेद रहा। शासकोंके लिये भारतीय भाषाओंका व्यावहारिक ज्ञान, उतना आवश्यक नहीं था जितना शासितोंके लिये, क्योंकि शासितोंको अपनी भाषाका ज्ञान प्राप्त कराके वे उनके द्वारा सुगमतासे अपना काम चला सकते थे। इस स्थितिमें पहले तो फोर्ट विलियम कालेजमें ऐसा प्रबंध किया गया कि इंग्लैंडसे आए हुए नवयुवक शासकोंको भारतीय भाषाओंकी शिक्षा दी जाय, पर पीछेसे इसकी तादृश आवश्यकता न समझी गई और यह कालेज बंद कर दिया गया। पहले चाहे जिस भावसे प्रेरित होकर यह कालेज खोला गया और फिर बंद कर दिया गया हो, पर इसने हिंदी साहित्यका रूप ही बदल दिया।

अंगरेजोंका यह नियम है कि वे पहले यह निश्चय कर लेते हैं कि कौन कौन सी बातें हमारे लिये आवश्यक और उपयोगी हैं और तब वे उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नवान् हो जाते हैं। हमारी हिंदी भाषाका साहित्य अबतक प्रायः पद्यमय था, गद्य तो उसमें नाममात्रको था। पद्यके द्वारा पारस्परिक व्यवहार कभी चल नहीं सकता। यद्यपि सब देशोंके साहित्यमें पहले पद्यका ही आविर्भाव होता है, पर साथ ही परस्पर भाव-विनिमयके लिये गद्यका भी प्रयोग होता है। हिंदीमें भी साहित्यका आरंभ पद्य-रचनासे हुआ है और इसके लिये ब्रजभाषाका ही विशेष प्रयोग हुआ है, पर भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और प्राचीन समयमें देशके भिन्न भिन्न भागोंके रहनेवालोंके आने-जाने तथा मिलने-जुलनेके

साधन सुगम न होनेके कारण भाव-विनिमयके लिये अनेक प्रांतिक भाषाओं तथा उपभाषाओंका खंडराज्य था। इस अवस्थामें जब अंगरेजोंको शासकों और शासितोंके बीच परस्पर व्यवहार स्थापित करनेकी आवश्यकता हुई, तब वे इस कामके लिये भिन्न भिन्न उपभाषाओं तथा बोलियोंमें से किसी एकको नहीं चुन सकते थे। इस कामके लिये उन्होंने मुख्य मुख्य प्रांतीय भाषाओंको चुना जिनमें हिंदी भी एक थी। पर हिंदीमें गद्य-ग्रंथ तो थे ही नहीं, इसलिए वे इन ग्रंथोंके निर्माणकी ओर दत्तचित्त हुए। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेजमें लल्लूजीलाल, सद्ल मिश्र आदि पंडितोंको यह काम सौंपा गया और उन्होंने सफलतापूर्वक इसे संपन्न किया। इन घटनाओंके वशवर्ती होकर हिंदी गद्यकी नींव दृढ़तापूर्वक रखी गई।

अब इस बातका विचार आरंभ हुआ कि भारतवासियोंको किस प्रकारकी शिक्षा दी जाय और वह भी किस भाषाके द्वारा हो। बहुत वाद-विवाद तथा सोचविचारके अनंतर अंगरेजी भाषा द्वारा पाश्चात्य विद्याओंकी शिक्षा देना निश्चित हुआ और उसके अनुसार भारतवर्षके भिन्न भिन्न स्थानोंमें इसका प्रबंध होने लगा। इस कार्यको इंग्लैंडवासी कितना आवश्यक और उपयोगी समझते थे, इसका अनुमान एक इसी बातसे कर लेना चाहिए कि संवत् १८१४ में, जब कि सिपाही-विद्रोह भयानक रूप धारण किये हुए था, पहला विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। तबसे लेकर आजतक शिक्षाका कार्य बराबर चला आ रहा है।

*

*

*

संसारमें जब जब महत्त्वके परिवर्तन होनेको होते हैं, तब तब उनकी सिद्ध करनेके लिये विशेष शक्ति-संपन्न आत्माओंका आविर्भाव

होता है। * * * भारतेंदु हरिश्चंद्रने हिंदी भाषामें नई संजीवनी शक्तिका संचार कर उसे इस योग्य बना दिया कि वह जातीय विकासकी सहायक होकर भारतवासियोंकी मातृभाषाके उपयुक्त गौरवको प्राप्त करनेमें समर्थ हुई।

* * * * *

“भारतेंदु हरिश्चंद्रके समयसे हिंदी साहित्यका नया युग आरंभ होता है। इन्होंने जिस अवस्थामें हिंदीको पाया वह विलक्षण थी। पद्यमें जायसी, सूर, तुलसी आदिके आख्यान-काव्योंका समय एक प्रकारसे बीत चुका था। केशवके चलाए हुए नायिकाभेद, रस, अलंकार आदिको लक्ष्य करती हुई स्फुट कविताओंके छींटे उड़ रहे थे। गद्य प्रेमसागर, सिंहासन-वत्तीसी और बैताल-पच्चीसीसे ही संतोष किए बैठा था।

“यद्यपि देशमें नए नए भावोंका संचार हो गया था, पर हिंदी भाषा उनसे दूर थी। लोगोंकी अभिरुचि बदल चली थी, पर हमारे साहित्यपर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था। शिक्षित लोगोंके विचारों और व्यापारोंने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था, पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्गपर था। ये लोग समयके साथ स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आए थे, पर जल्दीमें अपने साहित्यको साथ न ले सके। उसका साथ छूट गया और वह उनके कार्यक्षेत्रसे अलग पड़ गया। प्रायः सभी सभ्य जातियोंका साहित्य विचारों और व्यापारोंसे लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चिंताओं और कार्योंका प्रवाह तो एक ओर हो और उनके साहित्यका प्रवाह दूसरी ओर। फिर यह विचित्र घटना यहां कैसे हुई? बात यह है कि जिन लोगोंके हृदयमें नई शिक्षाके प्रभावसे नए विचार उत्पन्न हो चले थे, जो

अपनी आंखोंसे देश-कालका परिवर्तन देख रहे थे, उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणोंसे हिंदी साहित्यसे लगाव कूट सा गया था, और शेष ऐसे थे जिन्हें हिंदी साहित्यका मंडल बहुत ही बड़ा और परिमित दिखाई देता था, जिन्हें नए विचारोंको सन्निविष्ट करनेके लिये स्थान ही नहीं सूझता था। उस समय एक ऐसे साहसी और प्रतिभा-संपन्न पुरुषकी आवश्यकता थी जो कौशलसे इन बढ़ते हुए विचारोंका मेल देशके परंपरागत साहित्यसे करा देता। बाबू हरिश्चंद्रका प्रादुर्भाव ठीक ऐसे ही समयमें हुआ और वे यह कार्य करनेमें समर्थ हुए।”*

भारतेंदुजीकी साहित्य-सेवा-रूपी सरिता अनेक धाराओंमें प्रवाहित हुई थी। नाटक, आख्यान, काव्य, स्तोत्र, परिहास, इतिहास, माहात्म्य इत्यादि भिन्न भिन्न विषयोपर इनकी लेखनी परिचालित हुई थी। साधारणतः हम इनकी रचनाओंको दो मुख्य भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—पद्यात्मक रचनाएं और गद्यात्मक रचनाएं। इन दोनों प्रकारकी रचनाओंमें हम समान रूपसे एक व्यापक भाव पाते हैं। चाहे जैसा अवसर हो और चाहे जिस प्रकारकी रचनाकी आवश्यकता हो, भारतेंदुजी अपने देशको नहीं भूलते, घूम फिरकर इन्हें उसके पूर्व गौरव, वर्तमान हीन अवस्था और भविष्यका ध्यान आ ही जाता है और ये तत्संबंधी अपने हृदयोद्गारोंको रोक नहीं सकते।

* * * * *

सारांश यह कि भारतेंदु हरिश्चंद्रके हृदयमें सब अवसरों, सब अवस्थाओं और सब कालोंपर अपने देशकी स्मृति जाग्रत हो उठती थी

और वे उसीकी भलाईकी कामना निरंतर करते रहते थे। इसी देशभक्तिके भावसे प्रेरित होकर वे सब कार्योंमें प्रवृत्त होते थे। यह उनका जीवन-व्यापी भाव और ध्येय था। हमारी समझमें भारतेंदुजीकी इतनी महत्ता इसलिये नहीं मानी जानी चाहिए कि वे उच्च कोटिके कवि, हिंदीको नया जीवन तथा स्वरूप देनेवाले आदरणीय गद्य-लेखक, अथवा नाट्यसाहित्यकी नींव रखनेवाले नाट्यकार थे, जितनी इस बातके लिये मानी जानी चाहिए कि वे भारतभूमिकी हित-चिंतामें निरत रहकर उसके अभ्युदयकी सदा कामना करनेवाले, अपने सब कामोंमें उसी आदर्शको सामने रखकर कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेवाले और उसकी सिद्धिके लिये अपने आपको तथा अपना सर्वस्व उसके लिये निष्ठावर कर देनेवाले थे। देशहितैषिता ही उनका मुख्य प्रेरक भाव था, और सब बातें गौण तथा उसी मुख्य भावकी पुष्टिके लिये थीं।

भारतेंदुजीने ३४ वर्ष और ४ महीनेकी आयु पाई और १६ वर्षकी आयुमें उनके सार्वजनिक जीवनका आरंभ हुआ। इस हिसाबसे वे लगभग १८ वर्षतक अपने देशकी सेवा तथा अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कार्य कर सके। इस अल्प काल ही में उन्होंने जो कुछ कर दिखाया वह उनकी स्मृतिको सदा बनाए रखनेके लिये आवश्यकतासे अधिक है। उत्तर भारत पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य शिक्षाके प्रवाहमें वह चला था, उसमें यह इतना निमग्न हो चला था कि उसे अपने वास्तविक रूपका ज्ञान ही न रह गया था। इस प्रवाहमें उसका पुराना साहित्य पीछे छूट गया था और एक प्रकारसे देशकी साधारण स्थितिसे उसका संपर्क कम होता जाता था तथा उसकी भाषा नए नए भावों और विचारोंको

प्रकट करनेमें असमर्थ हो रही थी। ऐसी स्थितिमें साहित्यकी प्रवाहको देश-कालके अनुकूल बहाकर तथा भाषाको नया-रूप देकर अपने देशकी, अपने साहित्यकी और अपनी भाषाकी उन्होंने रक्षा कर ली। यद्यपि भारतेंदुजीकी साहित्यिक सेवा अमूल्य थी पर उनका महत्त्व उसके कारण इतना नहीं है जितना हिंदी भाषाको संजीवनी शक्ति देकर उसे देश-कालके अनुकूल सामर्थ्य-युक्त बनाने और देश-हितैषिताके भावोंको अपने देशवासियोंके हृदयोंमें उत्पन्न करनेमें था। लल्लूजीलालने जिस भाषाको नया रूप दिया, लक्ष्मणसिंहने जिसे सुधारा, उसको परिमार्जित और सुंदर सांचेमें ढालनेका श्रेय भारतेंदुजीको प्राप्त है। उनके समयमें भी इस बातका भगडा चल रहा था कि हिंदी उर्दू-मिश्रित हो या नहीं। राजा शिवप्रसादजी उर्दू-मिश्रित भाषाके पक्षपाती और उर्दू शैलीके पृष्ठपोषक थे। भारतेंदुजीने इसके विरुद्ध शुद्ध हिंदीका पक्ष लिया और उसको नए सांचेमें ढालकर एक नवीन शैलीकी स्थापना की। उनकी भाषामें माधुर्य गुणकी प्रचुरता है तथा वह प्रौढ़ता और परिमार्जिततासे संपन्न है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'हरिश्चंद्र मैगजीन'के उदयके साथ संवत् १८३०में हिंदी नए सांचेमें ढली।

भारतेंदुजीके जीवनका उद्देश्य अपने देशकी उन्नतिके मार्गको साफ सुथरा और लंबा चौड़ा बनाना था। उन्होंने इसके कांटे और कंकड़ोंको दूर किया, उसके दोनों ओर सुंदर सुंदर क्यारियां बनाकर उनमें मनोरम फल-फूलोंके वृक्ष लगाए। इस प्रकार उसे ऐसा सुरम्य बना दिया कि भारतवासी उसपर आनंद-पूर्वक चलकर अपनी उन्नतिके दृष्ट स्थानपर

पहुँच सकें। यद्यपि भारतेंदुजी अपने लगाए हुए वृक्षोंको फल-फूलोंसे लदा न देख सके, फिर भी हमको यह कहनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होता कि वे अपने जीवनके उद्देश्यमें पूर्णतया सफल हुए। हिंदी भाषा और साहित्यकी जो उन्नति आज देख पड़ रही है उसके मूल कारण भारतेंदुजी हैं और उन्हें ही इस उन्नतिके बीजको आरोपित करनेका श्रेय प्राप्त है। यदि वे उसकी भावी उन्नतिका मार्ग परिष्कृत न करते, उसे सुरक्षित न बनाते, तो अबतक उसका अस्तित्व ही लुप्त हो जाता और साथ ही देशके रूप-रंगमें ऐसा परिवर्तन हो जाता कि वह कठिनतासे पहचाना जा सकता। उन्होंने अपने अध्वसायसे, अपने स्वार्थत्यागसे, अपनी प्रतिभासे, अपनी देश-हितैषितासे, अपने सर्वस्वको आहुति देकर उसे स्थायी रूप दे दिया और उसे अंधकूपमें गिरनेसे बचा लिया। इस भारतीय आकाशके चंद्रमाको अस्त हुए आज ४२ वर्ष हो चुके पर उसकी यश-चंद्रिका ज्यों की त्यों चारों ओर अबतक छिटक रही है और जबतक इस भारतभूमिमें हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य और हिंदी-भाषा-भाषियोंका नाम रहेगा तबतक यह चंद्रिका भी नित्य नई उज्ज्वलतासे छिटककर भारतीय इतिहासको उज्ज्वल और हिंदी-साहित्य-सेवियोंके मार्गको प्रकाशित कर उन्हें उत्साहित करती रहेगी।

भगवान् श्रीकृष्ण

[प० पद्मसिंह शर्मा (संवत् १९३३-१९८९ वि०)—ये बड़े ही उत्कृष्ट विद्वान् थे। सुलेखक होनेके साथ साथ ऐसे धुरन्धर विद्वान् देखनेमें नहीं आते। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी इन सभी साहित्यिके अच्छे ज्ञाता थे। भाषा इनकी बड़ी फड़कती हुई होती थी। इनकी हिन्दी ओर उर्दू लेखनकलाका सौन्दर्य अपना सानी नहीं रखता। इनके लेखोंसे इनकी विद्वत्ता तथा गभीर अध्ययनका परिचय मिलता है। हिन्दीमें इनकी एक अपनी शैली थी जिसमें प्रवाह है, चंचलता है और उसके साथ ही गाम्भीर्य है। इनकी लिखी समालोचनाएँ तीव्र तथा विद्वत्पूर्ण होती थी। 'पद्मपराग', 'प्रबन्ध-संजरी' आदि इनकी सभी पुस्तकें उच्च कोटिकी हैं। 'सतसई-संहार' लिखनेके कारण तो हिन्दी संसारमें ये अमर हो रहे हैं। ये एक प्रतिष्ठित साहित्यसेवी थे।]

पांच हजार वर्षोंमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द इस धराधामपर अवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमीका शुभ पर्व प्रतिवर्ष हमें इस चिरस्मरणीय घटनाकी याद दिलाता है। आर्यजाति बड़ी अज्ञा भक्तिसे इस परमपावन पर्वको मनाती है। विश्वकी उस अलौकिक विभूतिके गुण-कीर्तनसे करोड़ों आर्यजन अपने हृदयोंको पवित्र बनाते हैं। अपनी वर्तमान अधोगतिमें, निराशाके इस भयानक अन्धकारमें, उस दिव्य ज्योतिकी ध्यानकी दृष्टिसे देखकर सन्तोष लाभ करते हैं। आज दुःखदावानलसे दग्ध भारतभूमि घनश्यामकी अमृत-वर्षाकी बाट जोहती है। दुःशासन-निपीड़ित प्रजा द्रौपदी रक्षाके लिये कातर स्वरमें पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गतिपर सिर धुनता हुआ 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति'की याद दिलाकर प्रतिज्ञाभंगकी 'नालिश' कर रहा है। जाति-जननी

अत्याचार-कांसके कष्ट-कारागारमें पड़ी दिन काट रही है, गौएँ अपने 'गोपाल'की यादमें प्राण दे रही हैं, जान गंवा रही हैं। (इस प्रकार भगवान्‌के जन्मदिनका शुभ अवसर भी हमें अपनी मौतका मर्सिया ही सुनानेको मजबूर कर रहा है, आनन्द बधार्इके दिन भी हम अपना ही दुखड़ा रो रहे हैं, विधिकी विड़म्बनासे 'प्रभाती'के समय 'विहाग' अलापना पड़ रहा है।) संसारकी अनेक जातियां लुप्त और बहुधा कल्पित आदर्शोंके सहारे उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ हो गई हैं और हो रही हैं। (उत्तम आदर्श उन्नतिका प्रधान अवलम्ब है। अवनतिके गर्तमें पतित जातिके लिये तो आदर्श ही उधार-रज्जु है।) आर्यजातिके लिये आदर्शोंका अभाव नहीं है। सब प्रकारके एकसे एक बढ़कर आदर्श सामने हैं। संसारकी अन्य किसी जातिने इतने आदर्श नहीं पाये, फिर भी—इतने महत्त्वशाली आदर्श पाकर भी—आर्यजाति क्यों नहीं उठती! यही नहीं, कभी कभी तो 'आदर्शवाद' ही दुर्दशाका कारण बन जाता है।)

भगवान् श्रीकृष्ण संसारभरके आदर्शोंमें सर्वाङ्गसम्पूर्ण आदर्श हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह कला सम्पूर्ण अवतार—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' मानते हैं। अवतार न माननेवाले भी उन्हें आदर्श 'योगिराज', 'कर्मयोगी' सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्य-जीवनको-सार्थक बनानेके लिये जो आदर्श अपेक्षित है वह सब स्पष्ट रूपमें प्रचुर परिमाणमें श्रीकृष्णचरितमें विद्यमान है। ध्यानी, ज्ञानी, योगी, कर्मयोगी, नीति-धुरन्धर नेता और महारथी योद्धा, जिस दृष्टिसे देखिये, जिस कसौटीपर कसिये, श्रीकृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत भाषाका साहित्य कृष्णचरितकी महिमासे

भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्यसे हम उसके तत्त्वको हृदयङ्गम नहीं करते। हम 'आदर्श'का अनुकरण करना नहीं चाहते, उल्टा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगतिका कारण है। यदि हम कर्मयोगी भगवान् कृष्णके आदर्शका अनुसरण करते तो आज इस दयनीय दशामें न होते। महाभारतके श्रीकृष्णको भूलकर 'गीत-गोविन्द'के कृष्णका काल्पनिक चित्र निर्माण करके उस आदर्श महापुरुषको 'चौरजारशिखामणि:'की उपाधि दे डाली है। पतनकी पराकाष्ठा है। कृष्णचरित्रके सर्वश्रेष्ठ लेखक श्रीबंकिमचन्द्रने एक जगह खिन्न होकर लिखा है—

“जबसे हम हिंदू अपने आदर्शको भूल गये और हमने कृष्णचरित्रको अवनत कर लिया तबसे हमारी सामाजिक अवृत्ति होने लगी, जयदेव (गीत-गोविन्द-निर्माता)के कृष्णकी नकल करनेमें सब लग गये पर 'महाभारत'के कृष्णकी कोई याद भी नहीं करता है।”

श्रीकृष्णको हिन्दूजाति क्या समझ बैठी है, इसका उल्लेख श्रीबंकिमने इस प्रकार किया है—

“पर अब प्रश्न यह है कि भगवान्को हम लोग क्या समझते हैं। यही कि वह बचपनमें चोर थे, दूध दही मक्खन चुराकर खाया करते थे। युवावस्थामें व्यभिचारी थे और प्रौढ़ावस्थामें बंचक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर द्रोणादिके प्राण लिये। क्या इसीका नाम मानव-चरित्र है? जो केवल शुद्धसत्त्व है, जिससे सब प्रकारकी शुद्धियां होती हैं और पाप दूर होते हैं, उसका मनुष्य देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवच्चरित्र है?”

“सनातन-धर्मद्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्रकी ऐसी कल्पना करनेके कारण ही भारतवर्षमें पापका स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसीको कभी जय प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं (बंकिमचन्द्र) श्रीकृष्णको स्वयं भगवान् मानता हूँ और उनपर विश्वास करता हूँ। अंग्रेजी शिक्षासे मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया है, पुराणों और इतिहासमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रका वास्तवमें कैसा वर्णन है यह जाननेके लिये मैंने जहांतक बना इतिहास और पुराणों का मन्यन किया ; इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्रके विषयमें जो पाप-कथाएँ प्रचलित हैं वह अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारोंने श्रीकृष्णके विषयमें जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देनेपर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय सहान् मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपापरहित आदर्श चरित्र और कहीं नहीं है। न किसी देशके इतिहासमें और न किसी काव्यमें।”

श्रीकृष्ण-चरित्रका भनन करनेवालोंको श्रीबंकिमचन्द्रकी उक्त सम्मतियोंपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रके रहस्यको अच्छी तरह समझकर उसके आधारपर यदि हम अपने जाति-जीवनका निर्माण करें तो सारे संकट दूर हो जायें। उदाहरणके तौरपर देखिए कि—

महाभारतके युद्धकी पूरी तथ्या्रियां हो चुकी हैं, सन्धिके सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं, धर्मराज युधिष्ठिरका सदय हृदय युद्धके अवश्यम्भावी दुष्परिणामको सोचकर विचलित हो रहा है, इस दशामें भी वह सन्धिके लिये व्याकुल है, बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित

है, श्रीकृष्ण स्वयं सन्धिके पक्षमें थे। सन्धिके प्रस्तावको लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बनकर जाना उचित समझा। दुर्योधन जैसे स्वार्थान्ध कपट-कुशल और 'जीते जुआरीके' दरबारमें ऐसे अवसरपर दूत बनकर जाना, जानसे हाथ धोना, दहकती हुई आगमें कूदना था। श्रीकृष्णके दूत बनकर जानेके प्रस्तावपर सहसा कोई सहमत न हुआ। दुर्योधनकी कुटिलता और क्रूरताके विचारसे श्रीकृष्णका वहां जाना किसीने उचित न समझा, इसपर खूब वादविवाद हुआ। उद्योग-पर्वका वह प्रकरण 'भगवद्‌यान-पर्व' बड़ा अद्भुत और हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णके सन्धिप्रस्तावको लेकर जानेका वर्णन है। श्रीकृष्ण जानते थे कि सन्धिके प्रस्तावमें सफलता न होगी, दुर्योधन किसीको माननेवाला जीव नहीं है। यात्रा आपज्जनक है, प्राणसंकटकी सम्भावना है, पर कर्तव्यानुरोधसे जानपर खेलकर भी उन्होंने वहां जाना ही उचित समझा।

दुर्योधनको जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं तो उसने श्रीकृष्णको साम, दान, दण्ड, भेद द्वारा जालमें फंसानेका कोई उपाय उठा न रक्खा। मार्गमें जगह जगह उनके स्वागतका धूमधामसे प्रबन्ध किया गया। रास्तेकी सड़कों खूब सजाई गईं। दुर्योधन जानता था कि सब कुछ श्रीकृष्णके हाथमें है, जो वह चाहेंगे वही होगा, उनकी आज्ञासे पाण्डव अपना सर्वस्व त्याग कर सकते हैं, श्रीकृष्णको काबूमें कर लिया जाय तो बिना युद्धके ही विजय हो सकती है, श्रीकृष्णके बलबूतेपर ही पाण्डव युद्धके लिये सन्नद्ध हो रहे हैं। निदान दुर्योधनने श्रीकृष्णको फंसानेकी प्राणपणसे चेष्टा की। पर 'अच्युत' श्रीकृष्ण अपने लक्ष्यसे कब चूकनेवाले थे। सन्धिका प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि

अपने साथियोंके साथ सभासे उठकर चले गये। जब उसने साम, दानसे काम बनते न देखा तो आवश्यक दण्ड देने—कैद कर लेनेका षड्यन्त्र रचा, उन्हें अपने घरपर निमन्त्रित किया। दुर्योधनकी इस दुरभिसन्धिकी विदुर आदि दूरदर्शी ताड़ गये, उन्होंने श्रीकृष्णको वहां जानेसे रोका। श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे, पर वह जिस कामको आये थे उसके लिये एक बार फिर प्राणपणसे प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा, वह दुर्योधनके घर पहुँचे, और निर्भयतापूर्वक सन्धिका औचित्य समझाया। पाण्डवोंकी निर्दोषता और दुर्योधनका अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकारकर चलने लगे, दुर्योधनने भोजनके लिये आग्रह किया, इसपर जो उचित उत्तर भगवान् श्रीकृष्णने दिया वह उन्हींके योग्य था। कहा कि या तो प्रीतिके कारण किसीके यहां भोजन किया जाता है, या फिर विपत्तिमें—दुर्भिक्षादि संकटमें। तुम हमसे प्रेम नहीं करते और हमपर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आई है, ऐसी दशामें तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें? इस प्रत्याख्यानसे क्रुद्ध होकर दुर्योधनने उन्हें घेरकर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रमने उसे परास्त कर दिया, वह अपनी धृष्टतापर लज्जित होकर रह गया।

पाण्डव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्णके सम्बन्धी थे, दोनों ही उन्हें अपने पक्षमें लानेके लिए समानरूपसे प्रयत्न-शील थे। 'लोक-संग्रह'के तत्त्वसे भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने 'सर्व-प्रियता' या हरदिल-अज़ीज़ीमें फंसकर अपने करारपनको दाग नहीं लगाया। मेल मिलापकी मोहमायामें भूलकर न्यायको अन्याय और धर्मकी

अधर्म नहीं बताया। निरपराधको अपराधी बताकर अपनी 'समदर्शिता' या 'उदारता'का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणोंका मोह छोड़कर दुर्योधनको समझाने गये और भयानक संकटके भयसे भी कर्तव्यपराङ्मुख न हुए।

आर्यजातिके लीडर और शिक्षित युवक श्रीकृष्णचरितको अपना आदर्श मानकर यदि अपने चरित्रका निर्माण करें तो देश और जातिका उद्धार करनेमें समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे।

सज्जनताका दण्ड

[श्रीप्रेसचन्द (संवत् १९३७-१९९३ वि०)—सुनशी धनपतराय उपन्यास ~~प्रेसचन्द प्रसिद्ध~~
उपन्यासकार और कहानी-लेखक थे। प्रारम्भमें इन्होंने उर्दू और अंगरेजीकी शिक्षा मिली थी। उर्दूमें भी इन्होंने अच्छे उपन्यास लिखे हैं। हिन्दी इन्होंने आगे चलकर पढ़ी और उर्दू साहित्यक्षेत्रसे हिन्दीसाहित्यक्षेत्रमें चले आये। सेवासदन, प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि, कायाकल्प आदि लिखकर इन्होंने हिन्दीमें युगान्तर उपस्थित कर दिया। इनकी अद्भुत वर्णन-शक्ति इनकी रचनाओंको प्रभावशाली तथा चमत्कारपूर्ण बना देती है। इनकी छोटी छोटी कहानियां विशेष मार्मिक और मनोहर होती हैं। सन् १९३६ ई०के अक्टूबर महीनेमें अचानक इन साहित्य महारथीका स्वर्गवास हो गया जिससे हिन्दी साहित्यको विशेष क्षति पहुँची। औपन्यासिकी रूपमें इनका स्थान अद्वितीय है।]

१

(साधारण मनुष्योंकी तरह शाहजहाँपुरके डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर सरदार शिवसिंहमें भी भलाइयां और बुराइयां दोनों ही वर्तमान

थीं। भलाई यह थी कि उनके यहां न्याय और दयामें कोई अन्तर न था। बुराई यह थी कि वे सर्वथा निर्लोभ और निःस्वार्थ थे। भलाईने मातहतोंको निडर और आलसी बना दिया था, बुराईके कारण उस विभागके सभी अधिकारी उनकी जानके दुश्मन बन गये थे।)

प्रातःकालका समय था। वे किसी पुलकी निगरानीके लिये तैयार खड़े थे। मगर साईस अभीतक मीठी नींद सो रहा था। रातको उसे अच्छी तरह सहेज दिया गया था कि पौ फटनेके पहले गाड़ी तैयार कर लेना। लेकिन सुबह भी हुई, सूर्य भगवानने दर्शन भी दिये, शीतल किरणोंमें गरमी भी आई, पर साईसकी नींद अभीतक नहीं टूटी।

सरदार साहब खड़े खड़े थककर एक कुर्सीपर बैठ गये। साईस तो किसी तरह जागा। परन्तु अर्दलीके चपरासियोंका पता नहीं। जो महाशय डाक लेने गये वे एक ठाकुरद्वारेमें खड़े चरणामृतकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जो ठेकेदारको बुलाने गये थे वे बाबा रामदासकी सेवामें बैठ गांजेका दम लगा रहे थे।

धूप तेज होती जाती थी। सरदार साहब झुंझलाकर मकानमें चले गये और अपनी पत्नीसे बोले, “इतना दिन चढ़ आया अभीतक एक चपरासीका भी पता नहीं। मेरा तो इनके मारे नाकमें दम आ गया।”

पत्नीने दीवारकी ओर देखकर दीवारसे कहा, “यह सब उन्हें सिर चढ़ानेका फल है।”

सरदार साहब चिढ़कर बोले, “तो क्या करूँ, उन्हें फांसी दे दूँ?”

२

सरदार साहबके पास मोटरकारका तो कहना ही क्या, कोई फिटिन भी न थी। वे अपने इक्केसे ही प्रसन्न थे, जिसे उनके नौकर-चाकर अपनी भाषामें उडनखटोला कहते थे। शहरके लोग उसे इतना आदर-सूचक नाम न देकर छकड़ा कहना ही उचित समझते थे। इसी तरह सरदार साहब अन्य व्यवहारोंमें भी बड़े मितव्ययी थे। उनके दो भाई इलाहाबादमें पढ़ते थे। विधवा माता बनारसमें रहती थीं। एक विधवा बहिन भी उन्हींपर अवलम्बित थी। इसके सिवा कई गरीब लड़कोंको वे छात्रवृत्तियां भी देते थे। इन्हीं कारणोंसे वे सदा खाली हाथ रहते थे। यहाँतक कि उनके कपड़ोंपर भी इस आर्थिक दशाके चिह्न दिखाई देते थे। लेकिन यह सब कष्ट सहकर भी वे लोभको अपने पास न फटकने देते थे। जिन लोगोंपर उनका स्नेह था वे उनकी सज्जनताको सराहते थे और उन्हें देवता समझते थे। उनकी सज्जनतासे उन्हें कोई हानि न होती थी। (लेकिन जिन लोगोंसे उनके व्यावसायिक सम्बन्ध थे वे उनके सदुभावोंके ग्राहक न थे, क्योंकि उन्हें हानि होती थी।) यहाँतक कि उन्हें अपनी सहधर्मिणीसे भी कभी-कभी अप्रिय बातें सुननी पड़ती थीं।

एक दिन वे दफ्तरसे आये तो उनकी पत्नीने स्नेहपूर्ण ढंगसे कहा, “तुम्हारी यह सज्जनता किस कामकी, जब सारा संसार तुमको बुरा कह रहा है ?”

सरदार साहबने दृढ़तासे जबाब दिया, “संसार जो चाहे कहे। परमात्मा तो देखता है।”

रामाने यह जबाब पहले ही सोच लिया था। वह बोली, “मैं

तुमसे विवाद तो करती नहीं। मगर जरा अपने दिलमें विचार करके देखो कि तुम्हारी इस सचाईका दूसरोंपर क्या असर पड़ता है। तुम तो अच्छा बेतन पाते हो। तुम अगर हाथ न बढ़ाओ तो तुम्हारा निर्वाह हो सकता है। रूखी रोटियां मिल ही जायंगी। मगर ये दस-दस पांच-पांच रुपयेके चपरासी, मुहर्रिर, दफ्तरी बेचारे कैसे गुजर करें। उनके भी बाल-बच्चे हैं। उनके भी कुटुम्ब-परिवार है। शादी-गमी, तिथि-त्यौहार यह सब उनके साथ लगे हुए हैं। भलमनसीका भेस बनाये बिना काम नहीं चलता। बताओ, उनका गुजर कैसे हो ? अभी रामदीन चपरासीकी घरवाली आई थी, रोते आंचल भींगता था। लड़की सुयानी हो गयी है। अबके उसका व्याह करना पड़ेगा। ब्राह्मणकी जाति—हजारोंका खर्च। बताओ उसके आंसू किसके सिर पड़ेंगे ?”

ये सब बातें सच थीं। इससे सरदार साहबको इनकार नहीं हो सकता था। उन्होंने स्वयं इस विषयमें बहुत कुछ विचार किया था। यही कारण था कि वह अपने मातहतोंके साथ बड़ी नरमीका व्यवहार करते थे। लेकिन सरलता और शालीनताका आत्मिक गौरव चाहे जो हो, उनका आर्थिक मोल बहुत कम है। वे बोले, “तुम्हारी बातें सब यथार्थ हैं। किन्तु मैं विवश हूं। अपने नियमोंको कैसे तोड़ूं ? यदि मेरा बश चले तो मैं उन लोगोंका बेतन बढ़ा दूं। लेकिन यह नहीं हो सकता कि मैं खुद लूट मचाऊं और उन्हें लूटने दूं।”

रामाने व्यङ्गपूर्ण शब्दोंमें कहा, “तो यह हत्या किसपर पड़ेगी ?”

सरदार साहबने तीखे होकर उत्तर दिया, “यह उन लोगोंपर पड़ेगी, जो अपनी हैसियत और आमदनीसे अधिक खर्च करना

चाहते हैं। अरदली बनकर क्यों वकीलके लड़केसे लड़की व्याहनेको ठानते हैं। दफ्तरीको यदि टहलुवेकी जरूरत हो तो यह किसी पाप-कायसे कम नहीं। मेरे सार्इसकी ली अगर चांदीकी सिल गलेमें डालना चाहे तो यह उसकी मूर्खता है। इस भूठी बड़ार्इका उत्तरदाता मैं नहीं हो सकता।” ✓

३

इंजिनियरोंका ठेकेदारोंसे कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मधु-मक्खियोंका फूलोंसे। अगर वे अपने नियत भागसे अधिक पानेकी चेष्टा न करं तो उनसे किसीकी शिकायत नहीं हो सकती। यह मधुरस कमीशन कहलाता है। रिश्वत और कमीशनमें बड़ा अन्तर है। रिश्वत लोक और परलोक दोनोंका ही सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीशन एक मनोहर बाटिका है, जहां न मनुष्यका डर है, न परमात्माका भय, यहांतक कि जहां आत्माकी छिपी हुई चुटकियोंका भी गुजर नहीं है। और यहांतक कहे इसकी ओर बदनामी आंख भी नहीं उठा सकती। यह वह बलिदान है जो हत्या होते हुए भी धर्मका एक अंश है। ऐसी अवस्थामें यदि सरदार शिवसिंह अपने उज्ज्वल चरित्रको इस धब्बेसे साफ रखते थे और उसपर अभिमान करते थे तो वे क्षमाके पात्र थे।

मार्चका महीना बीत रहा था। चीफ इंजिनियर साहब जिलेमें सुआयना करने आ रहे थे। मगर अभीतक इमारतोंका काम अपूर्ण था। सड़के खराब हो रही थीं। ठेकेदारोंने मिट्टी और कंकड़ भी नहीं जमा किये थे।

सरदार साहब रोज ठेकेदारोंको ताकीद करते थे, मगर इसका कुछ फल न होता था।

एक दिन उन्होंने सबको बुलाया। वे कहने लगे, ‘आप लोग क्या यही चाहते हैं कि मैं इस जिलेसे बदनाम होकर जाऊँ ? मैंने आपके साथ कोई बुरा सलूक नहीं किया। मैं चाहता तो आपसे काम छीनकर खुद करा लेता। मगर मैंने आपको हानि पहुँचाना उचित न समझा। उसकी मुझे यह सजा मिल रही है। खैर।’

ठेकेदार लोग यहांसे चले तो बातें होने लगीं। मिस्टर गोपालदास बोले, ‘अब आटे-दालका भाव मालूम हो जायगा।’

शहबाज खाने कहा, ‘किसी तरह इसका जनाज़ा निकले तो यहांसे।’

सेठ चुन्नीलालने फरमाया, ‘इज्जिनियरसे मेरी जान-पहचान है। मैं उनके साथ काम कर चुका हूँ। वह इन्हें खूब लथेड़ेगा।’

इसपर बूढ़े हरिदासने उपदेश दिया, ‘यारो, स्वार्थकी बात और है। नहीं तो सच यह है कि यह मनुष्य नहीं, देवता है। भला और नहीं तो साल भरमें कमीशनके १० हजार तो होते होंगे। इतने रुपयोंको ठीकरेकी तरह तुच्छ समझना क्या कोई सहज बात है ? एक हम हैं कि कौड़ियोंके पीछे ईमान बेचते फिरते हैं। जो सज्जन पुरुष हमसे एक पाईका रवादार न हो, सब प्रकारके कष्ट उठाकर भी जिसकी नीयत डवांडोल न हो उसके साथ ऐसा नीच और कुटिल बर्ताव करना पड़ता है। इसे अपने अभाग्यके सिवा और क्या समझें।’

शहबाज खाने फरमाया ‘हां, इसमें तो कोई शक नहीं कि यह शख्स नेकीका परिश्ता है।’

सेठ चुन्नीलालने गम्भीरतासे कहा, “खां साहब ! बात तो यही है, जो तुम कहते हो । लेकिन किया क्या जाय ? नेकनीयतीसे तो काम नहीं चलता । यह दुनिया तो छल-कपटकी है ।”

मिस्टर गोपालदास बी० ए० पास थे । वे गर्वके साथ बोले, “इन्हें जब इस तरह रहना था तो नौकरी करनेकी क्या जरूरत थी ? यह कौन नहीं जानता कि नीयतको साफ रखना अच्छी बात है । मगर यह भी तो देखना चाहिये कि इसका दूसरोंपर क्या असर पड़ता है । हमको तो ऐसा आदमी चाहिये जो खुद खाय और हमें भी खिलावे । खुद हलुआ खाय, हमें रूखी रोटियां ही खिलावे । वह अगर एक रुपया कमौशन लेगा तो उसकी जगह पांचका फायदा करा देगा । इन महाशयके यहां क्या है ? इसलिये आप जो चाहें कहें, मेरी तो कभी इनसे निभ ही नहीं सकती ।”

शहबाज़ खां बोले, “हां, नेक और पाक-साफ रहना जरूर अच्छी चीज है । मगर ऐसी भी क्या नेकी जो दूसरोंकी जान ही ले ले ।”

बूढ़े हरिदासकी बातोंकी जिन लोगोंने पुष्टि की थी वे सब गोपालदासकी हानि में हां मिलाने लगे । निर्बल आत्माओंमें सचाईका प्रकाश जुगनूकी चमक है ।

४

सरदार साहबके एक पुत्री थी । उसका विवाह मेरठके एक वकीलके लड़केसे ठहरा था । लड़का होनहार था । जाति-कुल ऊंचा था । सरदार साहबने कई महीनेकी दीड़-धूपमें इस विवाहको तै किया था और सब बातें ही चुकी थीं, केवल दहेज का

निर्णय न हुआ था। आज वकील साहबका एक पत्र आया। उसने इस बातका भी निश्चय कर दिया, मगर विश्वास, आशा और बचनके बिलकुल प्रतिकूल। पहले वकील साहबने एक जिलेके इन्जिनियरके साथ किसी प्रकारका ठहराव व्यर्थ समझा। बड़ी सस्ती उदारता प्रकट की। इस लज्जित और घृणित व्यवहारपर खूब आंसू बहाये। मगर जब ज्यादा पूछ-ताछ करनेपर सरदार साहबके धन-बैभवका भेद खुल गया तब दहेजका ठहराना आवश्यक हो गया। सरदार साहबने आशङ्कित हाथोंसे पत्र खोला। पांच हजार रुपयेसे कमपर विवाह नहीं हो सकता। वकील साहबको बहुत खेद और लज्जा थी कि वे इस विषयमें स्पष्ट होनेपर मजबूर किये गये। मगर वे अपने खानदानके कई बूढ़े, खुर्रांट, विचारहीन, स्वार्थान्ध महात्माओंके हाथों बहुत तङ्ग थे। उनका कोई वश न था। इन्जिनियर साहबने एक लम्बी सांस खाँची। सारी आशाएँ मिट्टीमें मिल गयीं। क्या सोचते थे, क्या हो गया। विकल होकर कमरेमें टहलने लगे।

उन्होंने जरा देर पीछे पत्रको उठा लिया और अन्दर चले। विचारा था कि यह रामाको पत्र सुनावें मगर फिर ख्याल आया कि यहां सहानुभूतिकी कोई आशा नहीं। क्यों अपनी निर्बलता दिखाऊँ? क्यों मूर्ख बनूँ? वह विना तानोंके बात न करेगी। यह सोचकर वे आंगनसे लौट गये।

सरदार साहब स्वभावके बड़े दयालु थे। और कोमल हृदय आपत्तियोंमें स्थिर नहीं रह सकता। वे दुःख ग्लानिसे भरे हुए सोच रहे थे कि मैंने ऐसे कौनसे बुरे कर्म किये हैं जिनका मुझे यह फल मिल रहा है। बरसोंकी दीड़-धूपके बाद जो कार्य सिद्ध हुआ था, वह

क्षणमात्रमें नष्ट हो गया। अब वह मेरी सामर्थ्यसे बाहर है। मैं उसे नहीं सम्भाल सकता। चारों ओर अंधकार है। कहीं आशाका प्रकाश नहीं। कोई मेरा सहायक नहीं। उनके नेत्र सजल हो गये।

सामने मेजपर ठेकेदारोंके बिल रक्खे हुए थे। वे कई सप्ताहोंसे योंही पड़े थे। सरदार साहबने उन्हें खोलकर भी न देखा था। आज इस आत्मिक ग्लानि और नैराश्यकी अवस्थामे उन्होंने इन बिलोंको सट्टण आंखोंसे देखा। जरासे इशारेपर ये सारी कठिनाइयां दूर हो सकती हैं। चपरासी और क्लर्क केवल मेरी सम्पत्तिके सहारे सब कुछ कर लेंगे। मुझे जबान हिलानेकी भी जरूरत नहीं। न मुझे लज्जित ही होना पड़ेगा। इन विचारोंका इतना प्राबल्य हुआ कि वे वास्तवमें बिलोंको उठाकर गौरसे देखने और हिसाब लगाने लगे कि उनमें कितनी निकासी हो सकती है।

मगर शीघ्र ही आत्माने उन्हें जगा दिया—आह। मैं किस भ्रममें पड़ा हुआ हूँ? क्या उस आत्मिक पवित्रताको, जो मेरी जन्म-भरकी कमाई है, केवल थोड़ेसे धनपर अर्पण कर दूँ? जो मैं अपने सहकारियोंके सामने गर्वसे सिर उठाये चलता था, जिससे मोटरकारवाले मेरे भ्रातृगण आंखें नहीं मिला सकते थे, वही मैं आज अपने उस सारे गौरव और मानको—अपनी सम्पूर्ण आत्मिक सम्पत्तिको—दस-पांच हजार रुपयोंपर त्याग दूँ? ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

तब उस कुविचारको परास्त करनेके लिये, जिसने क्षणमात्रके लिये उनपर विजय पा ली थी, वे उस सूनसान कमरेमें जोरसे ठठाकर हंसे। चाहे यह हंसी उन बिलोंने और कमरेकी दीवारोंने

सुनी हो चाहे न सुनी हो, मगर [उनकी आत्माने अवश्य सुनी। उस आत्माको एक कठिन परीक्षासे पार पानेपर परम आनन्द हुआ।

सरदार साहबने उन बिलोंको उठाकर मेजके नीचे डाल दिया। फिर उन्हें पैरोंसे कुचला। तब इस विजयपर मुस्कराते हुए वे अन्दर गये।

५

बड़े इञ्जिनियर साहब नियत समयपर शाहजहाँपुर आये। उनके साथ सरदार साहबका दुर्भाग्य भी आया। ज़िलेके सारे काम अधूरे पड़े हुए थे। उनके खानसामाने कहा, “हुजूर! काम कैसे पूरा हो? सरदार साहब ठेकेदारोंको बहुत तङ्ग करते हैं। हेड क्लर्कने दफ्तरके हिसाबको भ्रम और भूलोंसे भरा हुआ पाया। उन्हें सरदार साहबकी तरफसे न कोई दावत दी गई, न कोई भेंट। तो क्या वे सरदार साहबके कोई नातेदार थे जो गलतियां न निकालते?”

ज़िलेके ठेकेदारोंने एक बहुमूल्य डाली सजाई और उसे बड़े इञ्जिनियर साहबकी सेवामें लेकर हाजिर हुए। वे बोले, “हुजूर! चाहे गुलामोंको गोली मार दें, मगर सरदार साहबका अन्याय अब नहीं सहा जाता। कहनेको तो कमीशन नहीं लेते, मगर सच पूछिये तो जान ले लेते हैं।”

चीफ इञ्जिनियर साहबने मुआइनेकी किताबमें लिखा— ‘सरदार शिवसिंह बहुत ईमानदार आदमी हैं। उनका चरित्र उज्ज्वल है। मगर वे इतने बड़े ज़िलेके कार्यका भार नहीं संभाल सकते।’

परिणाम यह हुआ कि वे एक छोटे ज़िलेमें भेज दिये गये और उनका दरजा भी घटा दिया गया।

सरदार साहबके मित्रों और स्नेहियोंने बड़े समारोहसे एक जलसा

किया। उसमें उनकी धर्मनिष्ठा और स्वतंत्रताकी प्रशंसा की। सभापतिने सजलनेत्र होकर कम्पित स्वरमें कहा, “सरदार साहबके वियोगका दुःख हमारे दिलमें सदा खटकता रहेगा। यह धाव कभी न भरेगा।”

मगर ‘फेयरवेल डिनर’में यह बात सिद्ध हो गई कि स्वादिष्ट पदार्थोंके सामने वियोगका दुःख दुस्सह नहीं होता।

यात्राके सामान तैयार थे। सरदार साहब जलसेसे आये तो रामाने उन्हें बहुत उदास और मलिनमुख देखा। उसने बार-बार कहा था कि बड़े इञ्जिनियरके खानसामाको इनाम दो, हेड क्लर्ककी दावत करो। मगर सरदार साहबने उसकी बात न मानी थी। इसलिये जब उसने सुना कि उनका दरजा घटा और बदली भी हुई तब उसने बड़ी निर्दयतासे अपने व्यङ्ग-बाण चलाये। मगर इस वक्त उन्हें उदास देखकर उससे न रहा गया। बोली, “क्यों इतने उदास हो?” सरदार साहबने उत्तर दिया, “क्या करूँ, हंसू?” रामाने गम्भीर स्वरसे कहा, “हंसना ही चाहिये। रोये तो वह जिसने कौडियोंपर अपनी आत्मा भ्रष्ट की हो—जिसने रुपयोंपर अपना वर्म बेचा हो। यह बुराईका दण्ड नहीं है। यह भलाई और सज्जनताका दण्ड है। इसे सानन्द भेलना चाहिये।”

यह कहकर उसने पतिकी ओर देखा तो नेत्रोंमें सच्चा अनुराग भरा हुआ दिखाई दिया। सरदार साहबने भी उसकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखा। उनकी हृदयेश्वरीका मुखारविन्द सच्चे आमोदसे विकसित था। उसे गले लगाकर वे बोले, “रामा! मुझे तुम्हारी ही सहानुभूतिकी जरूरत थी, अब मैं इस दण्डको सहर्ष सहंगा।”

सर आशुतोष मुखोपाध्याय

[शिवनारायण लाल (स० १९४४ वि०—वरमान)- ये कलकत्ता श्रीविश्वज्ञानन्द सरस्वती विद्यालयके अध्यापक और कुछ दिनोंतक प्रध नाध्यापक थे। आजकल कौटिश चर्च कौलेज, प्रेसिडेन्सो कौलेज, गवर्नमेण्ट कौमार्शियल इस्टिब्लिश और विद्यासागर कौलेजके अध्यापक तथा कलकत्ता विश्व विद्यालयके अध्यापक और परीक्षक हैं। हिन्दी साहित्यके विान् होनेके साथ साथ बङ्गभाषाके भी पण्डित हैं। विद्यासागर कौलेजमें बङ्गभाषाके भी अध्यापक हैं। हिन्दी भाषामें इनका कहातक प्रवेश है यह इनके सरन हिन्दी-व्याकरणसे ही स्पष्ट अवदित हो जाता है। इनकी लिखन-शैली परपुष्ट और परिमाजित होनेके साथ साथ सरस, सरल और स्पष्ट है।]

{ सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी' क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ }

—रघुवंश, सर्ग १, श्लोक १४

कर्मकोलाहलमय संसारके भयावह आवर्तमें पडकर किसी देशके नेटहीन अधिवासी जब चारों ओर अन्धकार देखते हैं, तभी उनके परिचालकस्वरूप ऐसे किसी लोकोत्तर पुरुषका आविर्भाव हुआ करता है, जो जनसाधारणकी अपेक्षा कहीं उच्च और सारवान् होते हैं। उनके समकालीन सभी व्यक्तियोंकी सामर्थ्य उनके तेजके आगे क्षीण हो जाती है। सारी विपत्तियोंकी उपेक्षा कर वे मेरुकी भांति अचल अटल भावसे स्थिर रहकर अपना कार्य सम्पादन करते हुए औरोंके लिये आदर्श छोड़ जाते हैं। संक्षेपमें उन्हें ही युगावतार लोकनायक कह सकते हैं। प्रत्येक युगमें प्रत्येक देशमें ऐसे

महापुरुषोंके दर्शन मिलते हैं। विश्वविख्यात सर आशुतोष मुखोपाध्याय इसी प्रकारके एक पुरुषपुंगव थे।

ऐसे महापुरुषोंकी जीवनीकी आलोचनासे स्पष्ट विदित होता है कि वे देशकालभेदसे भिन्न भिन्न प्रकारके उद्देश्यसाधनके निमित्त ही इस भूलोकको अलङ्घित करते हैं। सर आशुतोष अपने देशवासियोंकी शिक्षाका भार ग्रहण कर ही इस मर्त्यभूमिपर अवतीर्ण हुए थे। (बङ्गदेशके अधिवासियोंकी शिक्षाकी, अधीनताकी जंजीरसे जकड़ी हुई और आत्ममर्यादाको भूली हुई जातिको चरित्रकी स्वाधीनताका माहात्म्य सिखानेकी, ये स्वर्गसे सन्तद लेकर आये थे।)

सर आशुतोषकी सभी बातें विलक्षण थीं। इनका हृदय, विद्या, बुद्धि, कर्मशक्ति अध्यवसाय और शरीर सभी विराट् थे। इसीसे ये विराट् पुरुष विराट् कलकत्ता विश्वविद्यालयका संघटन करनेमें समर्थ हुए थे। नवगठित विश्वविद्यालयके ये प्राणस्वरूप थे। इस विश्वविद्यालयकी प्रत्येक विशेषता इनकी अपूर्व कर्मशक्तिका परिचायक है। इस समय शिक्षाविषयमें बङ्गदेश जो भारतके अन्यान्य प्रदेशोंमें अग्रगण्य हो रहा है, बङ्गदेशका विश्वविद्यालय जो आज केवल भारत क्यों सुदूरवर्ती सुसभ्य देशोंमें भी प्रख्यात हो रहा है, वह सर आशुतोषकी महिमाका ही फल है। बङ्गदेश भारतका सुकुटमणि है और उसी बङ्गदेशके गौरवमणि थे सर आशुतोष।

सर आशुतोषका शुभ जन्म सन् १८६४ ई०में कलकत्ता महानगरीके मलंगा लेनमें हुआ था। आपके पूज्य पिताजीका नाम गङ्गाप्रसाद मुखोपाध्याय था। उन्होंने अपना वासभवन भवानीपुरमें बनवाया था। गङ्गाप्रसाद बाब प्रसिद्ध चिकित्सक थे।

चिकित्सा में उन दिनों उनका जैसा सुनाम था, वद्वान्यता में उनको प्रसिद्धि उससे कम नहीं थी। दोन दरिद्रों के यहां जाकर वह केवल रोगियों को बड़े यत्न से देखते यही नहीं, उनसे दर्शनी भी नहीं लेते, यहां तक कि जाने आने का खर्च और औषधिका मूल्य भी स्वयं देते। यह उन्हींकी शिक्षा का फल था कि उनके सुपुत्र सर आशुतोष ऐसे योग्य निकले।

बाल्यकाल से ही आशुतोषकी तीक्ष्ण बुद्धि और अद्भुत कार्यशक्तिका परिचय मिलने लगा था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' इसके ये उज्ज्वल दृष्टान्त थे। सन् १८७८ ई० में इन्होंने प्रवेशिका परीक्षा दी थी जिसमें तृतीय स्थान अधिकार किया था, किन्तु गणित में प्रथम हुए थे।

गणितशास्त्र पर इनका प्रगाढ़ अनुराग था। प्रेसिडेन्सी कौलेज में एफ० ए० पढ़ने के समय गणित में इन्होंने एम० ए० परीक्षा की पुस्तकें समाप्त कर दी थीं। बी० ए० परीक्षा में प्रथम स्थान अधिकार करने के बाद गणितशास्त्र में एम० ए० परीक्षा दी, और उसमें भी इन्होंने अपना पूर्व यश अक्षुण्ण रखा। सन् १८८५ ई० में इन्होंने प्रेमचन्द रायचन्द वृत्तिके लिये कलकत्ता विश्वविद्यालय की सर्वश्रेष्ठ परीक्षा दी, जिसमें आप ही को वृत्ति मिली। इस अति कठिन परीक्षा के साथ साथ दूसरी बार विज्ञान में एम० ए० परीक्षा दी और उसमें भी प्रथम स्थान प्राप्त किया। सन् १८८८ ई० में आईन-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और उसके बाद 'डाक्टर ऑफ ली' की उपाधि लाभ की। इस प्रकार विश्वविद्यालयरूपी आकाश को मध्याह्नकाल के प्रचण्ड मार्तण्डकी भांति आलोकित करते हुए आपने छात्रजीवन व्यतीत किया।

अब परीक्षा देना बन्द हुआ सही, किन्तु छात्रजीवन जारी रहा। आप आजीवन विद्याचर्चा कर गये हैं (कर्मजीवनका कड़ा दवाव अथवा संसारके नाना प्रकारके प्रबल भ्रमोंवात आपकी दुर्दमनीय ज्ञानलिप्सा विन्दुमात्र भी कम नहीं कर सके।) आपका अपना एक विशाल पुस्तकागार है।) ब्रह्मावस्थामें भी आप पुस्तकोंके ही बीच मगन रहते थे, जिसके फलस्वरूप ऐसी विद्या या शास्त्र नहीं जो आप नहीं जानते। धर्मशास्त्र, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि सभी विषयोंमें आप असाधारण व्युत्पन्न थे। आपकी विद्वत्तासे मुग्ध होकर नवद्वीपकी पण्डित-मण्डलीने आपको 'सरस्वती'की उपाधि दी थी। यह उपाधि बड़ी ही उपयुक्त थी, क्योंकि आप सरस्वती देवीके पुरुषावतार थे यह कहना अत्यन्त नहीं है।

जिस प्रकार सूर्यका उदय होते ही उसकी किरणें आप ही चारों ओर बिखर जाती हैं, फूल खिलने पर उसकी सुगन्ध स्वयं सर्वत्र फैल जाती है, उसी प्रकार विद्याका यश भी सारे संसारमें स्वतः ही फैल जाता है। तरुण आशुतोषकी विद्वत्ता और ज्ञानकी बात किसीसे छिपी नहीं रही। शिक्षा विभागके डायरेक्टर महोदय इनके गुणोंसे परिचित थे। उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि ये शिक्षाविभागमें काम करें, क्योंकि वे जानते थे कि इनके सहयोगसे शिक्षा विभागकी बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। इसलिये उन्होंने इन्हें २५० मासिक वेतनका कार्य देना चाहा। किन्तु इन्हें विलायतसे हो आये हुए लोगोंके समान वेतन नहीं दिया जायगा यह जानकर उन्होंने उस कार्यका प्रत्याख्यान किया। विद्या, बुद्धि, ज्ञान किसीमें ये विलायतसे लौटे हुए किसी विद्वान्से

कम नहीं थे। जो आत्ममर्यादाका गौरव जानता है, जिसके हृदयमें आत्मसम्मानका भाव भरा है, जो अपनी कार्यशक्ति अच्छी तरह समझता है, वह यह कैसे सह सकता है ? इनका तेजस्वी हृदय और लोगोंसे कम वेतनमें कार्य ग्रहण करनेकी सम्मति न दे सका। अतएव कार्य करना स्वीकार न कर हाईकोर्टमें वकालत करनेका विचार किया और सर रासविहारी घोषके अधीन शिक्षा-नवीस हुए। कुछ दिनोंमें ही व्यवहारशास्त्रमें इनकी असाधारण दक्षता प्रकट हुई। लोगोंकी धारणा है कि सरस्वती और लक्ष्मीका एक साथ समागम नहीं होता, और यही कारण है कि विद्वान् धनवान् नहीं होते, किन्तु सर आशुतोषके विषयमें यह कहा जा सकता है कि इनकी विद्वत्ताके तेजके सामने लक्ष्मी देवीको भी झुकना पड़ा, अर्थात् इन्हें वकालतसे अच्छी आय होने लगी।

किन्तु अर्थोपार्जन ही इनका उद्देश्य नहीं था, नाना विषयोंमें मनोयोग देने लगे और शीघ्र ही विश्वविद्यालयकी सिण्डिकेट सभाके सदस्य नियुक्त हुए। इनकी असाधारण क्षमताका ही प्रभाव था कि केवल २४ वर्षकी अवस्थामें इन्हें यह सम्मान मिला। सन् १८९९ और १९०१ ई०में दो बार विश्वविद्यालयकी ओरसे बङ्गीय व्यवस्थापक सभाके सदस्य निर्वाचित हुए। बडे लाट साहबकी व्यवस्थापक सभाके भी सदस्य हुए। सन् १९०२ ई०में भारतवर्षकी शिक्षापद्धतिकी नयी व्यवस्था करनेके लिये लौर्ड कर्जनने जो कमिटी बनायी थी उसके सभ्य मनोनीत हुए, और विश्वविद्यालय सम्बन्धी वर्तमान आर्डन विधिवद् करनेमें हाथ बंटाया। सन् १९०४ ई०में आप हाईकोर्टके विचारक नियुक्त हुए तथा सुदीर्घ १९ वर्ष असाधारण सूक्ष्मबुद्धि, विशिष्ट व्यवहारज्ञान, विचक्षणता तथा न्याय-

परतांक साथ उक्त पदको गौरवान्वित किया। इस बीचमें इन्होंने दो बार अस्थायी रूपसे प्रधान विचारपतिका आसन भी अलङ्कृत किया, और इन्हें 'नाइट'की उपाधि मिली।

बङ्गदेशका प्रधान न्यायालय जीविका उपार्जनका कार्यक्षेत्र था सही, पर इनका सर्वप्रथम और सर्वप्रधान कार्यक्षेत्र था कलकत्ता विश्वविद्यालय। शिक्षाविस्तारमें क्या राजा क्या प्रजा सभीकी उदासीनता देखकर यह अत्यन्त दुखी हुए थे इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि इन्होंने सर्वसाधारणमें व्यापक भावसे शिक्षा प्रचार करना ही अपने जीवनका प्रधान लक्ष्य माना और स्वयं इस कामको पूरा करनेका बीड़ा उठाया। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये विश्वविद्यालयमें प्रवेश करनेके समयसे जीवनके शेष सुहृत्तक तन-मन-धनसे उसकी सेवा कर गये हैं।

विश्वविद्यालयके संस्कारमें पद पदपर बाधा मिलने पर भी ये भग्नोत्साह नहीं हुए। अपनी कुशलग्रुद्धि तथा दूरदर्शिताके प्रभावसे बहुतसे कर्मकुशल बुद्धिमानोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ हुए, तथा उनके सहयोगसे स्वयं जो उचित समझा वही किया। अन्तमें जब १८०६ ई०में विश्वविद्यालयके वाईस-चान्सेलर नियुक्त हुए, तब इनके उद्देश्यकी सिद्धिका सुवर्ण-सुयोग संघटित हुआ। सन् १८०६से १८१४ ई० तक और सन् १८२१से १८२३ ई०तक वाईस-चान्सेलरके पदपर प्रतिष्ठित रहकर विश्वविद्यालयका आम्बूल संस्कार कर उसकी जिस नयी मूर्तिकी प्रतिष्ठा की वही इनकी श्रेष्ठ कीर्ति है। विश्वविद्यालयके कल्याणके लिये इनका अविश्रान्त अध्यवसाय अतुलनीय था। विचारकार्यके कठिन परिश्रमके बाद इन्हें जो कुछ अवसर मिलता वह सब विश्वविद्यालयके कार्यमें

ही लगाते । सोते जागते और सम्भवतः स्वप्नमें भी ये विश्वविद्यालयकी मङ्गलकामना किया करते थे ।

पहले यह विश्वविद्यालय केवल परीक्षालय था, इन्होंने इसे शिक्षालयमें परिणत कर विश्वविद्यालयके नामकी सार्थकता सम्पन्न की । अब यहां प्राच्य और प्रतीच्य साहित्य, विज्ञान, गणित, दर्शन, अर्थशास्त्र आदि नानाविध विषयोंकी उच्च शिक्षा दी जाती है । इनकी चेष्टासे सर तारकनाथ पालित और सर रासविहारी घोषने अपना अतुल ऐश्वर्य विश्वविद्यालयके हाथ सौंप दिया, जिससे 'विज्ञान-कालेज' स्थापित हुआ जो अपने ढंगका एक ही है ।

विश्वविद्यालयकी सर्वतोमुखी उन्नति इन्हींकी कीर्ति है यह सभी जानते हैं, किन्तु सर्वश्रेष्ठ कीर्ति है इनकी बङ्गभाषाको और साथ साथ हिन्दी, मैथिली, गुजराती आदि भारतकी अन्यान्य प्रचलित भाषाओंको विश्वविद्यालयमें उच्च स्थान देना । पहले इन दीन भारतवाणियोंको विश्वविद्यालयके आंगनमें बड़े ही सङ्कोचसे प्रवेश करना पड़ता था । ये भाषाएं भी पढ़ने और परीक्षा देनेके उपयुक्त हैं इस ओर किसीका ध्यान ही नहीं था । मातृभाषाका अनादर देख इनका हृदय व्याकुल हो उठा । ये इस बातको हृदयङ्गम कर सके कि मातृभाषाकी चर्चा सम्यग्रूपसे किये बिना ज्ञानचर्चामें पूर्णता प्राप्त करना सम्भव नहीं है । अतएव इन्होंने भारतवाणियोंको उच्च आसन दिया और इन भाषाओंमें एम० ए० परीक्षा होने लगी । ये यदि और कुछ भी न कर सकते तोभी केवल इसीके लिये इनकी कीर्ति अक्षुण्ण अजर अमर रहती । यह कहना अनुचित न होगा कि ये इस विश्वविद्यालयको भारतीय विश्वविद्यालयोंमें आदर्श और शीर्षस्थानीय

तथा अन्यान्य उन्नत देशोंके प्रथम श्रेणीके विश्वविद्यालयोंके समकक्ष बना गये हैं।

सर आशुतोषके चरित्रका वर्णन करना अगाध समुद्रमें डुबका लेना है। किस गुणको लें और किसे छोड़ें, समझना कठिन है। इनका चरित्र समझनेकी जितनी चेष्टा की जाय उतना ही हृदय विस्मयसे पूर्ण हो जाता है।

इनके चरित्रमें सबसे बड़ा गुण था अपनी शरणमें आये हुए लोगोंकी रक्षा करना और उनपर सदा कृपा रखना। केवल इस आश्रितवत्सलतासे ही ये जनसाधारणके हृदयको अपनी ओर आकृष्ट कर सकते थे ऐसा भी समय आ जाता था कि ये उनके दोषगुणोंपर विचार करनेका अवसर तक नहीं पाते। इससे इनकी कभी कभी निन्दा भी हो जाती थी। पर निःस्वार्थ उपकार करनेमें निन्दासे डर किस बातका? चाहे इसे उदारता कहें चाहे दुर्बलता कहें, यह इनमें विशेषता थी कि जो इनकी कृपा भिन्ना चाहता उसका यथाशक्ति उपकार करनेमें ये कभी कुण्ठित नहीं होते। यह इनके हृदयका माधुर्य्य था। ये न तो कभी किसीको वृथा आशा देते और न मीठी मीठी बातोंसे किसीको कभी भुलावेमें डालते। वास्तवमें विपन्न होकर जो इनकी शरणमें आता उसे आश्रय देनेके लिये इनका हृदय व्यग्र हो उठता। जिनके असीम तेज और वज्रगम्भीर स्वरसे वीरोंका हृदय कांप उठता, जो 'बङ्गालके बाघ'के नामसे परिचित थे, उनके हृदयमें ऐसी कोमलता देखकर चकित होना पड़ता है। ऐसे कठिन नीरस आवरणके भीतर ऐसा स्वादिष्ट मधुर जल—कोमलता, दयालुता। इसीपर सच्चे सज्जनके लक्षणमें कहा गया है—

‘नारिकेल-समाकारा दृश्यन्ते हि सुसज्जनाः ।’ भवभूतिने भी कहा है कि श्रेष्ठ व्यक्तिका चरित्र बज्रसे भी कठोर और कुसुमसे भी कोमल होता है। उनके अन्तस्तलका पता पाना जनसाधारणके लिये दुष्कर है।

क्या समाजमें, क्या कर्मक्षेत्रमें कहीं भी इन्होंने आत्ममर्यादाको कलुषित नहीं होने दिया। इनके ऐसे धर्मभावयुक्त मनुष्य भी विरले ही मिलेंगे। इनकी स्मृतिशक्ति भी असाधारण थी। जिस पुस्तकको यह एकबार पढ़ जाते उसकी बातें इन्हें बरसों याद रहतीं, और इसीसे किस पुस्तकमें क्या है या किसने कब क्या कहा या लिखा है यह जाननेके कारण ये किसीके भुलावेमें नहीं आ सकते थे। इनके गुणोंका स्मरण कर मन सुग्ध हो जाता है। विश्वविद्यालय क्या, ये एक महासाम्राज्य-संवटनकी शक्ति लेकर आये थे। इनके लिये बङ्गदेश बड़ा ही संकीर्ण क्षेत्र था इसमें सन्देह नहीं।

जीवनके सायाह्निकालमें ये विचारकपदसे अवसर ग्रहण कर पुनः वकालत करने लगे थे। उन दिनों डुमरांव राज्यका जटिल मामला चल रहा था। उस प्रसिद्ध मुकद्दमेमें एक पक्षकी ओरसे वकील नियुक्त होकर ये पटना गये थे। वहाँ ये अकस्मात् अस्वस्थ हुए। एक ही दिनमें इनकी अवस्था ऐसी बिगड़ गयी कि किसीको इनके बचनेकी आशा न रही। सन् १८२४ ई०की २५ वीं मई, रविवारकी सन्ध्याको ७ बजे केवल दो ही दिन रोगभोगके बाद इन्होंने अमरधामको प्रस्थान किया। इस प्रकार इनकी आधिभौतिक शक्ति सदाके लिये अस्त हो गयी, परन्तु इन विद्यावीरकी पवित्र स्मृति भारतवासियोंके हृदयमें सदा जीवित

रहेगी। उसी रातको इनके सुपुत्रोंने इनका शव स्पेशल ट्रेन द्वारा कलकत्ता पहुँचानेका प्रबन्ध किया। मृत्यु-समाचार रातहीको कलकत्ता महानगरीमें दावानलकी तरह फैल चुका था। सभीके हरे भरे हृदय झुलस रहे थे। सोमवारको सबेरा होते ही राजा महाराजा, जज मजिस्ट्रेट, अध्यापक विद्यार्थी प्रभृति असङ्ख्य नरनारी इनके अन्तिम दर्शनके लिये हवड़ा स्टेशन पहुँचे और वहाँसे शवके साथ कालीघाटतक गये, जहाँ इनकी अन्त्येष्टिक्रिया सम्पन्न हुई। फिर तो नगरभरमें ऐसा शोक छाया मानों कलकत्तावासियोंके किसी अत्यन्त निकट आत्मीयको गङ्गालाभ हुआ हो। समाचार फैलनेके साथ बङ्गदेश तो सुहृद्मान हो ही गया, सारा भारतवर्ष भी शोकसे आतुर हो उठा। स्कूल, कालेज, कचहरी, ऑफिस सभी जगह और वार्डसरायकी कौंसिलसे लेकर छोटीसे छोटी समितियों तकमें इनकी स्मृतिमें शोक मनाया गया और हार्डकोर्ट, यूनिवर्सिटी, कालेज, स्कूल, आदि सभी बन्द रहे।

यह पहले ही कहा गया है कि सर आशुतोष विश्वविद्यालयके प्राणस्वरूप थे। इनकी मृत्युसे विश्वविद्यालय प्राणहीन शरीर—पक्षिहीन पिञ्जर हो रहा था। इस विशाल विश्वविद्यालयका ऐसा कर्णधार कौन होगा जो इनका स्थान पूर्ण कर सके, यह चिन्ता बहुतोंको व्यग्र कर रही थी। यों तो विश्वविद्यालयके सभी कार्य हो ही रहे थे, पर वह उत्साह, वह जागृति, वह निर्भीकता कहां? ईश्वरकी लीला अपरम्पार है। इस विशाल कायामें फिरसे प्राण लानेके लिये स्वर्गमें भी आशुतोषकी आत्मा विचलित हुई और अपना एक अंश अपने स्थानपर बिना बैठाये न रह सकी। 'आत्मा वै जायते पुनः'—पुनः अपनी ही आत्मा है। इनके सुपुत्र श्रीयुक्त

श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय, एम० ए०, बी० एल०, डी० लिट०, बारिष्टर-पेट-लौ, एम० एल० ए०, महोदय वार्डस-चान्सेलरके प्रतिष्ठित पदपर प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने भी अपने पिताकी भांति बड़ी योग्यता, निपुणता तथा निर्भीकताके साथ चार वर्ष विश्वविद्यालयके कार्योंका सुचारुरूपसे सम्पादन किया। प्रत्येक विभागका निरीक्षण स्वयं इस प्रकार किया कि इनके पूज्य पिताजी जितने कार्य अधरे छोड़ गये थे उनके पूरे होनेमें अब सन्देह नहीं रहा, और जो जो उनकी आन्तरिक अभिलाषाएं थीं उनके भी कार्यमें परिणत होनेके लक्षण दिखाई देने लगे।

(इस असार संसारसागरसे पार उतरनेकी जो अभय तरणी है तथा कर्मयोगियोंके लिये जो एकमात्र अवलम्ब हैं, उन नवदूर्वादल-श्यामकान्ति, पीतवसन, पद्मपलासलोचन, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्दसे प्रार्थना है) कि वे श्यामाप्रसादजीको नीरोग और चिरायु रखें जिससे विश्वविद्यालयकी और भी उन्नति करनेमें उनसे सहायता मिलती रहे।

सीजन डल है

[रामनरेश त्रिपाठी (सं० १९४६ वि०—वर्तमान)—ये गद्य और पद्य दोनोंके अच्छे लेखक हैं। हिन्दीकी उन्नति करनेमें इनका उद्यम और उत्साह सराहनीय है। इनकी रचना-शैली भी उत्तम है। इनकी लिखी 'कविता-कौमुदी' जो कई भागोंमें समाप्त हुई है और जिसमें बहुमूल्य सन्धिग्रंथोंकी लड़िया हैं, हिन्दी भण्डारका एक अमूल्य रत्न है।]

[१]

स्थान—डाक्टरका शयनागार

समय—प्रातःकाल ८ बजे

(डाक्टर शौच आदिसे निवृत्त होकर एक टूटी हुई आरामकुर्सी-पर लेटा हुआ, आंखें मूंदकर, हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा है।)

डाक्टर—हाय ! मेरा ड्राइंगरूम बिल्कुल उजड़ा हुआ है। एक भी फर्नीचर नहीं है। हे ज्वर ! तुम कहां हो ? मेरी स्त्रीके शरीरपर एक भी कीमती गहना नहीं है। हे इन्फ्लुएन्जा ! तुम किस देशमें रम रहे हो ? मेरे बच्चे पैसेकी कमीसे न थियेटर देखने जाते हैं, न सिनेमा। हे प्लेग ! इस नगरमें तुम्हारा शुभागमन कब होगा ? मेरे पास मोटर नहीं है। मैं मरीजोंको देखने तांगीपर जाता हूं। हे हैजा ! मैं तुम्हारी राह देख रहा हूं। मुझे चौबीस घण्टोंमें चार-पांच बार बदलनेके लिए कई सूट चाहिएं; छः-सात जोड़े बूट चाहिएं; चश्मा, कढ़ी, घड़ी और फाउण्टेन-पेन चाहिए। हे मलेरिया ! तुम्हारे हृदयमें मेरे लिए दया कब उत्पन्न होगी ?

(स्त्रीका प्रवेश)

स्त्री—प्रियतम ! चा तैयार है । आजकल आप चिंतित-से क्यों रहते हैं ?

डाक्टर—(धीरेसे) (सीजन डल है ।)
[२]

स्थान—मकानका बरामदा

समय—संध्या

(उपास्थिति—डाक्टर और उसके जन-परिजन)

डाक्टर—(दोनों हाथ मंहपर फेरकर) ईश्वर सचमुच दीनबन्धु है । वह सबकी खबर लेता रहता है ।

कन्या—पिताजी । मुझे एक रेशमी साड़ी खरीद दो ।

डाक्टर—अच्छा बेटा ! मलेरिया आ गया है ।

स्त्री—मेरे लिए कुछ सोनेके गहने बनवा दीजिए । मुझे भतीजीके व्याहमें न्योते जाना है ।

डाक्टर—अच्छा, मेरी रानी । इन्फ्लुएन्जाके केस बढ़ रहे हैं ।

साईंस—हुजूर । घोड़ेको दाना कम मिलता है, इससे वह दुबला और कमजोर पड़ता जा रहा है ।

डाक्टर—दाना बढ़ा दो । हैज़ा फैल चुका है ।

पुत्र—पिताजी । मोटर ले लो ।

डाक्टर—बेटा ! यदि ईश्वरकी कृपा हुई और इस शहरमें प्लेग आ गया तो इस साल जरूर मोटर खरीद दूंगा ।

मक्खनवाला—डाक्टर साहब । मक्खन ?

डाक्टर—हां, रोज़ दे जाया करो । शहरमें बीमारी फैल चुकी

है। दिन भर दौड़ना पड़ता है। मक्खन न खानेसे शरीर निर्बल पड़ जायगा।

[३]

स्थान—दवाखाना

समय—प्रातःकाल १० बजे

एक गरीब—हुजूर ! आज पंद्रह दिन दवा पीते हो गये, मेरे लडकेका ज्वर नहीं गया।

डाक्टर—(अन्यमनस्क-सा होकर) तुम्हारे लडकेकी बीमारी बड़ी कड़ी है। उसका फेफड़ा सड़ा जा रहा है। कुछ दिन लगकर दवा करो, नहीं तो पकताओगे।

गरीब—हुजूर। दवाका दाम कहाँसे लाऊँ ? किसी तरह औरतके गहने और घरके बरतन बेचकर बीस-पच्चीस रुपये जमा किये थे, सब दवाके दाममें लग गये।

डाक्टर—(गरीबकी ओर ताककर) भाई ! दवाके दाम तो देने ही पड़ेंगे।

गरीब—हुजूर। गरीब आदमी हूँ। जल्दी आराम कर दीजिए।

डाक्टर—कम्पाउण्डर।

कम्पाउण्डर—जी, हाँ (कम्पाउण्डर आता है)।

डाक्टर—(अलग ले जाकर) इसके लडकेको अबतक क्या दवा देते रहे हो ?

कम्पाउण्डर—अबतक तो खाली पानी और कभी-कभी उसमें सोंफके अर्ककी दो एक बूंदें डालकर दिया करता था।

डाक्टर—वह कहता है कि मेरे पास अब पैसा नहीं है। उसके लड़केको मामूली मलेरिया ज्वर है। दो-तीन खुराक कुनाइन-मिक्शचर दे दो, अच्छा हो जायगा। (गरीबसे) दवा बदल दी है। अब दो ही तीन खुराकमें तुम्हारे लड़केका ज्वर उतर जायगा।

गरीब—भगवान् आपका भला करें। आप जुग-जुग जियें। (गरीब कम्पाउण्डरके पास जाता है।)

(एक रईसका प्रवेश)

रईस—डाक्टर साहब ! मेरे लड़केकी तन्दुरुस्ती दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है। कोई दवा कार नहीं कर रही है।

डाक्टर—आपके लड़केको क्षय-रोग प्रारम्भ हो चुका है। मैंने उस दिन खूनकी परीक्षा करके देखा था। खूनमें क्षयके कीटाण पैदा हो चुके हैं।

रईस—(चिन्ताकुल होकर) तब ?

डाक्टर—तब क्या ? क्षय-रोग बहुत भयानक रोग है। आराम होनेमें कुछ समय लगेगा।

रईस—एक वर्ष तो आपकी दवा लेते हो गया, अब और कितना समय लगेगा ?

डाक्टर—जबतक आराम न हो, तबतक तो दवा करनी ही पड़ेगी। (मनमें) (मैं न रोगीको मरने देता हूँ, न रोगको। मैं दोनोंकी रक्षा करता हूँ। जो किसीके लिये रोग है, वह मेरे लिए कल्पवृक्ष है, कामधेनु है।) (मनमें कुछ उत्साहित होकर) हे रोगो ! तुम फूलो, फलो, चिरंजीवी हो। घर-घरमें तुम्हारा निवास हो। शरीर-शरीरमें तुम्हारा अटल राज्य हो।

रईस—डाक्टर साहब ! फिर क्या कहते हैं ?

डाक्टर—आप आज्ञा दें तो कलकत्ते, बम्बईसे दो-तीन बड़े डाक्टरोंको बुलाकर कन्सल्ट (सलाह) करूँ ?

रईस—क्या खूब लगेगा ?

डाक्टर—विशेष नहीं, आठ-दस हजारके लगभग लगे'गे ।

रईस—बहुत है ।

डाक्टर—आपके लिए कुछ भी नहीं है । एक ही लडका है । धन-दौलत कोई साथ ले जायगा ?

रईस—अच्छा, सात-आठ तकमें काम हो जाय तो दो-तीन डाक्टरोंको बाहरसे बुलाकर दिखला लीजिए ।

डाक्टर—देखिए, कोशिश तो मैं करूँगा कि इतनेमें काम हो जाय । पर साहब । आपका इतना बड़ा नाम सुनकर बाहरके डाक्टर लोग मुँह बहुत फैलायेंगे । (मनमें) हे भगवान् । रोग और रोगी दोनों ही दीर्घायु हों ।

[४]

स्थान—कौंसिल

स्वराजिष्ठ मेम्बर—डाक्टरोंकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है । साथ ही मलेरिया, इन्फ्लुएन्जा, हैजा, प्लेग, चेचक, क्षय, डायबिटीज (मधुमेह) आदि तरह-तरहके रोग भी बढ़ते रहते हैं । क्या डाक्टरोंकी वृद्धिके साथ रोगोंकी वृद्धिका कोई सम्बन्ध है ? डाक्टरोंका स्वार्थ रोगके बढ़नेमें है, घटनेमें नहीं । इससे डाक्टरकी नीयत रोग घटानेकी हो नहीं सकती । सरकारको चाहिए कि रोगों को कम करनेके लिए वह डाक्टरकी नीयत पर कब्जा करे ।

नीयत बदले बिना रोग घट नहीं सकते अतएव मेरा प्रस्ताव है कि—

१—डाक्टर मात्र जनताके स्वास्थ्यके जिम्मेदार समझे जायं ।

२—शहरोंके महल्ले डाक्टरोंमें बांट दिए जायं । प्रत्येक व्यक्तिसे उसकी हैसियतके अनुसार डाक्टरको प्रतिमास एक निश्चित रकम दिलाई जाय । जब कोई व्यक्ति बीमार हो, तब उससे डाक्टरको प्रतिमास जितनी रकम मिलती हो उसकी दो गुनी रकम प्रतिदिन डाक्टर उस मरीज़को तबतक दिया करे जबतक वह नीरोग न हो जाय । जैसे एक व्यक्ति डाक्टरको प्रतिमास दो रुपये दिया करता है । यदि वह बीमार हो तो डाक्टर उसको प्रतिदिन ४ रुपये दिया करे । ऐसा नियम बन जानेसे डाक्टरोंकी नीयत बदल जायगी और कोई डाक्टर यह न चाहेगा कि रोग बढ़े । बल्कि सब इस प्रयत्नमें रहेंगे कि उनके महल्लेका कोई भी व्यक्ति बीमार न होने पावे ।

इण्डिपेण्डेण्ट मेम्बर—मैं हृदयसे इस प्रस्तावका समर्थन करता हूँ ।

नैशनलिस्ट—यह प्रस्ताव जनताके कल्याणके लिए बहुत आवश्यक है । मैं जोरोंसे इसका अनुमोदन करता हूँ ।

लिवरल—इससे अच्छा प्रस्ताव कौंसिलमें कभी आया ही नहीं । मैं तहेदिलसे इसकी तार्जद करता हूँ ।

हिन्दू-सभावादी—यह प्रस्ताव सर्व-सम्प्रतिसे पास होना चाहिए ।

मुस्लिम-लीगवादी—बढ़ती हुई बीमारीका यही सबसे अच्छा इलाज है । यह रिज़ोल्यूशन ज़रूर पास होना चाहिए ।

सभापति—इस प्रस्तावके विरुद्ध कोई कुछ कहना चाहता है ?

आवाज़—कोई नहीं ।

एक सदस्य—मैं इसमें इतना और बढ़ा देना चाहता हूँ कि—
यदि कोई रोगी अधिक दिन बीमार रहकर मर जाय और
बीमारीके दिनोंकी रकम वह डाक्टरसे न पा चुका हो तो उसके
वारिसको अधिकार है कि वह डाक्टरसे वसूल करे । यदि उसका
कोई वारिस न हो तो सरकार वसूलकर सकती है ।

सभापति—इसके पक्षमें जो हों, कृपया हाथ उठावें ।

सब—(एक स्वरसे) आल, आल ।

सभापति—दोनों प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हुए ।

[५]

स्थान—डाक्टरका घर ।

समय—सवेरे १० बजे । प्रस्ताव कानून बन चुका है ।

(डाक्टर साहब भोजन कर रहे हैं ।)

नौकर—डाक्टर साहब । ठाकुर साहबका नौकर आया है कि
उनको आज सवेरेसे खांसी आ रही है ।

डाक्टर—(हडबडाकर, हाथमें उठाया हुआ ग्रास थालीमें
फेंककर) जल्दी मोटर लाओ । ड्राइवरको बोलो, हरवक्त मोटर
दरवाज़ेपर तैयार रहे ।

(उठकर रूमालसे हाथ पोंछते हुए जाते हैं ।)

स्त्री—भला, खाना तो खाते जाइए ।

डाक्टर—(चलते-चलते) ठाकुर साहबसे मुझे ५ महीना
मिलता है । शामतक खांसी न अच्छी हुई तो मुझपर १०) रोज़

की चपत पड़ जायगी। पिछले महीने दो हजार रुपये मुझे अपने पाससे रोगियोंको देने पड़े हैं।

स्त्री—हे भगवान् ! इस महल्लेमें किसीको खांसी न आवे।

[६]

(डाक्टर साहब मोटरपर बैठ रहे हैं)

(एक गरीब चमार आता है)

चमार—हुजूर ! मेरे लड़केके सिरमें दर्द है।

डाक्टर—मैं ठाकुर साहबको देखकर अभी आता हूँ। घबराओ नहीं, सिर-दर्द तो मैं चुटकियोंमें अच्छा कर दूंगा।

(पूर्व-परिचित रईस आते हैं)

रईस—डाक्टर साहब ! मेरे लड़केके लिए कोई नया नुस्खा ?

डाक्टर—कोई नया नुस्खा नहीं। आपके लड़केको ज्वर-रोग नहीं है। मैंने कल उसे समझा दिया है। ज्वर और मधुमेह (डायबिटीज़) आदि रोगोंमें बारह आना तो शक रहता है। मैंने कल उसका शक रफ़ा कर दिया है। अब वह अच्छा हो जायगा।

रईस—(खुश होकर) आपका मैं बहुत एहसानमंद हूँ।

डाक्टर—(मनमें) कानूनका एहसान मानिए।

[७]

स्थान—डाक्टरका शयनागार

समय—रात्रिके भोजनोपरान्त।

डाक्टर—हे भगवान् ! आपकी अनन्त धन्यवाद है। आज मेरे महल्लेमें कोई बीमार नहीं हुआ। हे परमात्मा ! मनुष्य-समाजसे तुम रोगोंको हटा लो।

स्त्री—आजकल आप दिनभर घरसे बाहर रहते हैं। खाने-पीनेकी भी फ़िक्र आपने छोड़ दी।

डाक्टर—आजकल दिनभर रोगोंसे लड़ता रहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि एक भी रोग कहीं रह न जाय। एक घण्टा सबेरे एक घण्टा शामको मैं महल्लेके लोगोंको जमा करके नीरोग रहनेके उपाय बताया करता हूँ। लोगोंके घरोंमें जा-जाकर मैं उनकी गंदगी हटवाया करता हूँ। कोई रोग शुरू होते ही अच्छेसे अच्छा इलाज करके मैं उसे निर्मूल कर देता हूँ।

पुत्र—पिताजी। अब आप विलायतसे दवाइयोंका पार्सल नहीं मंगाते। उसमें बड़ी सुन्दर-सुन्दर शीशियां और छोटे-छोटे बक्स आया करते थे।

डाक्टर—नये क़ानूनके मुताबिक अब सब दवाइयोंके दाम मुझे अपने पाससे देने पड़ते हैं। अतएव जहांतक संभव होता है, मैं देशी दवाइयां ही काममें लाता हूँ। ये सस्ती भी होती है और ताज़ी होनेके कारण इनका असर भी जल्दी होता है।

कन्या—पिताजी। अब तो प्लेग, हैज़ा, इन्फ़्लुएन्ज़ा, मलेरियां, खांसी आदिके केस बहुत कम होते हैं। वे रोग कहां चले गये ?

डाक्टर—बेटी। ईश्वर करे, ये रोग हमारे महल्लेमें कभी न आवें। ये जहन्नुममें जायें। अब ये आयंगे तो हम भूखों मरने लगेंगे। (गहरी सांस खींचकर) हे भगवान् ! मनुष्यमात्रको नीरोग करो।—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभागभवेत् ॥

अमर जीवन

[श्रीसुदर्शन (सं० १९५२ वि० वर्तमान)—इनकी कहानियां स्वाभाविक और मनोरञ्जक होती हैं। इनकी कहानियोंको पढ़नेसे गद्यकाव्यका आनन्द आता है, और उनमें हर प्रकारकी मनोवृत्तिका अच्छा अध्ययन मिलता है।]

(१)

बाबू इन्द्रनाथके कलममें जादू था। (जब लिखने बैठते, साहित्य-सुधाकी धाराएं बह निकलतीं; जैसे पहाड़ोंसे मीठे जलकी नदियां फूट निकलती हैं।) उनकी उमर अधिक न थी। ज़रादासे ज़रादा पचास सालके होंगे। मगर उनकी कविता और कल्पना देखकर जी खुश हो जाता था। साधारणसे साधारण विषय भी लेते तो उसमें जान डाल देते। उनके निबन्ध पढ़कर लोग मंत्र-मुग्ध हो जाते। कहते—“मन मोह लेता है। उनकी उपमाएं कैसी सुन्दर हैं, शब्द कैसे मधुर हैं, पाठक किसी दिव्यलोकमें पहुँच जाते हैं। यही जी चाहता है, पढ़ते ही रहें कभी बस न करें।” उनकी रचनामें मनोरञ्जन, सौन्दर्य, मोहिनी, सब कुछ था, और सबसे बढ़कर सादगी थी। वे अपने पाठकोंपर बड़े बड़े कठिन शब्दोंसे रोब न डालते थे। यह ढंग उन्हें कभी पसन्द न आता था। उन्हें जो कुछ कहना होता, सादे और सरल शब्दोंमें कह देते, और यही उनका सबसे बड़ा गुण था। एक वर्ष पहले लोग उनके नामसे भी परिचित न थे, और आज हिन्दीके क्षेत्रमें कोने कोनेमें उनके नामका डंका बजता है। कोई छोटेसे छोटा भी ग्राम ऐसा न

होगा जिसमें 'भाव-सुषमा' और 'सोम-सागर' की एक दो प्रतियां न हों। इन ग्रन्थरत्नोंको जो पढ़ता, उसीपर जादू हो जाता।

परन्तु इन्द्रनाथकी आर्थिक दशा संतोषजनक न थी। इतनी सिर-पच्ची करनेके बाद भी उनको इतनी आय न होती थी कि चिन्ता-रहित जीवन बिता सकते। प्रायः दुखी रहते, और अपने देशकी शोचनीय दशापर रोया करते। किसे खयाल था कि उनके प्रान्तका सबसे बड़ा लेखक, सबसे प्यारा कविराज पैसे-पैसेकी मुहताज होगा। उनका प्रकाशक कमाता था, वे भूखों मरते थे। संसारका यह दुर्व्यवहार देखकर उनका दिल खट्टा हो जाता, और कभी कभी तो इतने जोशमें आजाता कि लिखे-लिखाये लेख फाड़ डालते, लेखनी तोड़ देते, और कहते—“अब लिखनेका कभी नाम न लूंगा।”

(२)

प्रातःकाल था। इन्द्रनाथ धूपमें बैठे एक मासिक पत्रिकाके पन्ने उलटते हुए मुस्करा रहे थे। उनकी स्त्री मनोरमाने पूछा—क्यों ? क्या है, जो इतने खुश हो रहे हो ?

इन्द्रनाथने मनोरमाकी तरफ़ प्रेम-भरी दृष्टिसे देखा और उत्तर दिया—भाव-सुषमाकी समालोचना है। बहुत प्रशंसा की है।

मनोरमाके मनमें उदुगारकी गुदगुदी होने लगी। ज़रा आगे खिसककर बोली—प्रशंसा करते है, समझते खाक भी नहीं।

इन्द्रनाथ—अरे।

मनोरमा—भूठ नहीं है। यहांके लोग मूर्ख हैं, तुम्हारी कद्र क्या जानें। भैंसके आगे वीणा बज रही है।

इन्द्रनाथ—मेरी रचनाके गुण दोष समझनेवाले वास्तवमें थोड़े

हैं। सारे शहरमें केवल एक व्यक्ति है, जिसे इन बारीकियोंका ज्ञान है।

मनोरमा—कौन ?

इन्द्रनाथ—तुम्हें डाढ़ तो नहीं होगा। वह एक स्त्री है, पर ऐसी योग्यता मैंने किसी पुरुषमें भी नहीं देखा।

मनोरमाको कुछ सन्देह हुआ। धीरेसे बोली—कौन है ?

इन्द्रनाथ—श्रीमती मनोरमा देवी रानी। तुमने भी नाम तो सुना होगा।

मनोरमाने हंसकर मुंह फेर लिया और बोली—जाओ, तुम तो हंसी करते हो।

इन्द्रनाथ—नहीं मनोरमा। वास्तवमें मेरी यही सम्मति है।

मनोरमा—बस, कोई बनाना तुमसे सीख जाय।

इन्द्रनाथ—मेरी हिम्मत तुम न बढ़ातीं तो मैं इतनी उन्नति कभी न करता।

मनोरमा—बड़ी पण्डिता हूँ न ?

इन्द्रनाथ—यह मेरे दिलसे पूछो। सोना अपना मूल्य नहीं जानता।

मनोरमा—मगर तुम खुशामद करना खूब जानते हो।

इन्द्रनाथ—समालोचना सुनोगी ?

मनोरमा—सुनाओ।

इन्द्रनाथने पढ़ना आरम्भ किया—“भाव-सुषमा हमारे सामने है। हमने इसे पढ़ा और कई दिनतक मनपर नशा सा छाया रहा। ऐसा प्रतीत होता है मानों हम किसी अन्य लोकमें आ पहुँचे हैं। इसमें सौन्दर्य है, इसमें सादगी है। इसमें स्वाभाविकता है, इसमें

कल्पना है। इसमें माधुरी है, इसमें सरलता है। और क्या कहें—इसमें सब कुछ है।”

सहसा किसीने नीचेसे आवाज दी—“बाबू इन्द्रनाथ।”

इन्द्रनाथ और मनोरमा दोनों चौंक पड़े, जैसे किसी सुमधुर संगीतके बीचमें कोई ऊंची आवाज़से रोने लग जाय। उस समय रोगीके दिलपर क्या गुज़रती है, यह वही समझता है। वह झुंझला उठता है, लड़ने-मारनेको तैयार हो जाता है।

बाबू इन्द्रनाथने पत्रिका चारपाईपर रख दी, और नीचे गए। वापस आये, तो उनका चेहरा उदास था और आंखोंमें आंसू लहरा रहे थे।

मनोरमाने पूछा—कौन था ?

इन्द्रनाथ—मकान-मालिक था।

मनोरमाका मुंह पीला हो गया। दुखी होकर बोली—क्या कहता था, यह तो बुरे ढङ्गसे पीछे पड़ा है। चार दिन भी सब नहीं करता।

इन्द्रनाथ—कहता है, अब तो नालिश ही करनी पड़ेगी।

मनोरमा—कितना किराया है ? तीन महीनेका ?

जब हमारे पास रुपया नहीं होता तब हम हिसाब नहीं करते। हिसाब करते हुए हमें डर लगता है। इन्द्रनाथने मनोरमाकी बातको अनसुना कर दिया और कहा—जी चाहता है कोई नौकरी कर लूं। अब यह रोज़ रोज़का अपमान नहीं सह्य जाता। प्रशंसा करनेको सभी हैं, सहायता करनेको कोई भी नहीं। और खाली प्रशंसासे किसीका पेट कब भरा है।

मनोरमाने अपने पतिकी ओर देखा और कहा—कर देखो !

मगर तुम्हारा यह लिखनेका चसका तो न छूटेगा। यह भी दूसरी शराब है।

इन्द्रनाथ—हुआ करे, छोड़ दूंगा। तुमने मुझे अभी समझा ही नहीं।

मनोरमा—खूब समझती हूँ। दफ्तरमें काम कर सकोगी ?

इन्द्रनाथ—पैसे मिलेंगे तब क्यों न करूंगा ?

मनोरमा—अफसरोंकी भिड़कियां सह सकोगी ?

इन्द्रनाथ—मकान-मालिकके तगादोंसे तो जान बचेगी।

मनोरमा—यदि किसीने कह दिया—अरे ! ये तो वही कविराज हैं जो साहित्य-क्षेत्रमें इतना प्रसिद्ध हैं। हमने समझा था, कोई बड़ा आदमी होगा, पर यह तो साधारण मुन्शी निकला। तब ?

इन्द्रनाथ—मैं समझूंगा, किसी और को कहते हैं। अब और क्या करूँ ! प्रकाशकोंने तो मेरे परिश्रमपर डाका मारनेका निश्चय कर लिया है। कहते हैं, जब कोई ज़रादा न देगा तब भखमारकर हमारी शर्तें स्वीकार करेगा। वे रुपयावाले हैं, रुपयेका मूल्य समझते हैं, कलाका मूल्य नहीं समझते। ऐसे स्वार्थी मुझे क्या दे सकेंगे। योरपमें होता तो सोनेका महल खड़ा कर लिया होता। यहां अपने भाग्यको रो रहे हैं।

मनोरमा—तुम अपना दिल छोटा न करो। सब ठीक हो जायगा।

इन्द्रनाथ—तो आज जाऊँ, लाला रंगीलालसे मिल आऊँ। मेरा दिल कहता है, काम बन जायगा। बड़े सज्जन हैं।

मनोरमा—ज़रा तारीफ़ कर देना। बड़े आदमी दो बातोंसे ही खुश हो जाते हैं।

इन्द्रनाथ—सुम्मे इस तरह पढ़ानेकी ज़रूरत नहीं ।

मनोरमा—यह काम हो जाय, तो समझे गंगा नहा लिया ।

इन्द्रनाथ—उनका तो बहुत अधिकार है, चाहें तो आज ही नौकरी दे दें । उठो, कपड़े बदलवा दो । बहुत मैले हो गए हैं ।

मनोरमाने उठकर सन्दूक खोला, और कपड़े देखने लगी, परन्तु कपड़े धुलकर नहीं आये थे । मनोरमाके हृदयपर दूसरा आघात लगा । उसका मुंह हार्दिक वेदनासे घीला पड़ गया । यह वही प्रसन्न-बदन, वही प्रफुल्ल-हृदय मनोरमा थी, जिसके कहकहोंसे सारा मुहल्ला गूंजता रहता था, पर इस समय वह कितनी अशान्त, कैसी उदास थी । पंखी कभी फलकी डालियोंपर बैठकर किलोलें करता है, कभी पंख समेटकर चुप-चाप अपने घोंसलेमें बैठ जाता है ।

इन्द्रनाथने ठंडी आह भरी, और कहा—मनोरमा । अब नहीं सहा जाता ।

(यह वही प्रतिभा-सम्पन्न, वही सुप्रसिद्ध लेखक है, जिसकी कविता देशके कोने कोनेमें आदर-सम्मानसे पढ़ी जाती है, जिसकी लेखनीकी रचनायें पत्थर-दिलोंको भी मोह लेती है, जिसकी शब्द-रचनाको लोग तरसते हैं, जिसका नाम सुनकर लोग अद्वा-भावसे गरदन झुका देते हैं, जिसके ग्रन्थ दुष्टात्माओंके लिये धर्म-उपदेशोंसे कम नहीं । आज वही पचास रुपयेकी नौकरी करने चला है, काव्य, कल्पना और कलाकी नगरीका राजा भीख मांगने निकला है ।)

मनोरमाने अपने पतिकी वह हीन-दशा देखी, तो आह मारकर ज़मीनपर बैठ गई । इस समय उसके हृदयमें एक ही विचार था—यह सिर किसीके सामने कैसे झुकेगा ?

(३)

एक घंटे के बाद इन्द्रनाथ पे-आफिसके सुपरिंटेंडेंट लाला रंगीलालके दफ्तरमें थे। लाला रंगीलाल एक पुस्तक पढ़ रहे थे। उन्होंने बहुत तपाकके साथ उठकर इन्द्रनाथसे हाथ मिलाया, और माफ़ी मांगते हुए कहा—सुभे केवल पांच मिनटकी आज्ञा दीजिये।

यह कहकर लाला रंगीलालने सामने पड़ी हुई कुरसीकी तरफ़ इशारा किया, और अपनी पुस्तक पढ़नेमें लीन हो गये। इन्द्रनाथको यह व्यवहार अत्यन्त लज्जा-जनक मालूम हुआ। उनको ऐसा मालूम हुआ जैसे किसीने खुल्लम-खुल्ला निरादर कर दिया हो। उनका चेहरा तमतमा उठा। ख़याल आया, कैसा असभ्य है। इसे अपने समयका ख़याल है, हमारे समयकी परवा नहीं। और यदि अभीसे यह दशा है तो नौकर हो जानेके बाद तो शायद द्वारपर प्रतीक्षा करनी-होगी।

इन्द्रनाथने उठनेका संकल्प किया, मगर एकाएक मकान-मालिककी अग्निमूर्ति याद आगई। क्या फिर वही आंखें देखूंगा ? क्या फिर वही धौंस सुनूंगा ? इन्द्रनाथ चुपचाप बैठ गये, जैसे हवामें उड़ते हुए कागज़ोंपर कोई लोहिका टुकड़ा धर दे। इन कागज़के टुकड़ोंकी लोहिके समुख क्या शक्ति है। आत्माको प्रकृतिने दबा लिया। यह प्रतीक्षाका समय इन्द्रनाथके लिये आत्मिक यन्त्रणाका समय था। और जब लाला रंगीलालने पुस्तक समाप्त कर ली तब इन्द्रनाथको ऐसा मालूम हुआ, जैसे कमरेमें हवाका अभाव है, और उनका दम घुटा जा

रहा है। मगर रंगीलाल अपनी पढ़ी हुई पुस्तकके ध्यानमें तन्मय थे। थोड़ी देरतक वे योगकी सी अवस्थामें आंखें बन्द किये पड़े रहे, फिर बड़बड़ाने लगे—वाह वाह ! क्या कहना !! कितने ऊँचे विचार हैं, कैसे पवित्र भाव !!!

इन्द्रनाथ उनकी ओर आंखें फाड़कर देखने लगे कि ये कहते क्या हैं ? रंगीलालने मेज़पर झुककर कहा—फ़रमाइये जनाब ! क्या हुक़म है ?

इतनेमें कमरेका द्वार खुला, बड़े साहब हाथमें टोप लिये हुए अन्दर आये। लाला रंगीलाल खड़े हो गये।

“गुड मॉर्निंग।”

“गुड मॉर्निंग। यह पुस्तक कैसा है ?”

रंगीलाल—“बहुत बढ़िया।”

साहबने पुस्तक एक हाथमें लेकर दूसरे हाथसे उसके पत्ते उलटते हुए कहा—टो आपको बहोत अचा मालूम हुआ।

रंगीलाल—अच्छाका सवाल नहीं, मैंने ऐसी पुस्तक हिन्दीमें आजतक नहीं देखी।

साहब—इटना अचा है ?

रंगीलाल—पढ़नेपर मज़ा मिल गया।

साहब—इंग्लिशमें किस किताबके माफ़िक है ?

रंगीलाल—यह मैं नहीं जानता, पर पुस्तक बहुत अच्छी है।

साहब—ड्रामा है क्या ?

रंगीलाल—नहीं साहब। ‘पोयट्री’ है।

साहब—हिन्दीका पोयट्री क्या होगा। ‘रबिश’ होगा।

रंगीलाल—यदि आप पढ़ सकते तो ऐसा कभी नहीं कहते।

सहसा इन्द्रनाथकी दृष्टि पुस्तकके कवरकी तरफ गई, तो वे चौंक पड़े। वह पुस्तक 'भाव-सुषमा' थी। उनका मनमयूर नाचने लगा। उनका दिल गुलाबके फूलके समान खिल गया। वे अब इस दुनियामें न थे, किसी और दुनियामें थे। उन्हें अब इस तुच्छ, निकृष्ट, नश्वर दुनियाकी मोहनी माया—दौलत—की परवा न थी। सोचते थे, दौलत क्या है? आती है, चली जाती है। यह उड़ती-फिरती चिड़िया है, जिसे पिंजरेमें बन्द रखना असम्भव है। मेरे पास धन नहीं, धनवान् तो हैं। इस आदमीके दिलमें मेरा कितना मान है, कैसी भक्ति-भावना है? पुस्तककी ओर इस तरह देखता है, जैसे कोई भक्त अपने उपास्य-देवकी ओर देखता हो। पढ़ता था तब आंखें चमकती थीं। मुझे इस दशामें देखेगा तो क्या कहेगा? चौंक उठेगा। चकित रह जायगा। उसे आशा न होगी कि मैं भिखारी बनकर उसके सामने हाथ पसारूंगा, और मैं—मैं उसके सामने आंखें न उठा सकूंगा। लज्जासे भूमिमें गड़ जाऊंगा। मुझे नौकरी मिल जायगी—पर आत्म-गौरवकी दौलत जाती रहेगी। यह सौदा महंगा है। लोग आत्म-गौरवकी खातिर सर्वस्व लुटा देते हैं। क्या मैं चांदीके कुछ सक्कींके लिये इस अमोल धनसे शून्य रह जाऊंगा? नहीं, यह भूल होगी। मैं यह भूल कभी नहीं करूंगा।

यह सोचकर इन्द्रनाथ धीरेसे उठे, और द्वार खोलकर बाहर निकल गये। इस समय उनके मुंहपर आध्यात्मिक आभा थी, जो इस असार संसारमें कम ही दिखाई देती है। उनकी आंखोंमें आत्म-सम्मानकी ज्योति जलती थी, दिलमें स्वर्गीय आनन्दका सागर लहरें मारता था। पहले आत्माको प्रकृतिने पछाड़ा था, अब

प्रकृतिपर आत्माने विजय पायी। इन्द्रनाथमें वही सन्तोष था, वही त्याग, वही संयम, वही वैराग्य, जो संन्यासियोंकी सम्पत्ति है, जिसके लिये योगी जंगलोंमें भटकते फिरते हैं। घर पहुँचे तब ऐसे प्रसन्न थे, जैसे कुबेरका धन पा गये हों। मनोरमा बोली—मालूम होता है, काम बन गया।

इन्द्रनाथ—आशासे भी अधिक।

मनोरमा—परमात्माको धन्यवाद है कि उसने हमारी सुन ली। क्या महीना तय हुआ ?

इन्द्रनाथ—कुछ न पूछो। इस समय मेरा दिल बसमें नहीं है।

मनोरमा—अरे ! तो क्या मुझे भी नहीं बताओगे ?

इन्द्रनाथने मनोरमाको सारी कहानी सुना दी, और अन्तमें कहा—मनोरमा ! मुझे नौकरी नहीं मिली, पर आत्म-ज्ञान मिल गया है। मेरे ज्ञान-चक्षु खुल गये हैं। मैं अपने आपको भूला हुआ था, आज मेरे हृदय-पटसे परदा उठ गया है। मुझे मालूम हो गया है, कविकी पदवी कितनी महान्, कैसी उच्च है ? वह दिलोंके सिंहासनपर राज्य करती है, वह सोती हुई जातिकी जगाती है, वह मरे हुए देशमें नवजीवनका सञ्चार करती है। दुनिया अपने लिये जीती है और अपने लिये मरती है, मगर कविका सारा जीवन उपकारका जीवन है। वह गिरे हुए उत्साहको उठाता है, रोती हुई आंखोंके आंसू पोंछता है, और निराशावादियोंके सम्मुख आशाका दिव्य दीपक रोशन करता है। दुनियाके लोग उत्पन्न होते हैं और मर जाते हैं, पर ऐसे जाति-निर्माता सदा ज़िन्दा रहते हैं, उन्हें कभी मौत नहीं आती। मैंने नौकरी नहीं ली, यह अमर जीवन ले लिया है। मनोरमा ! मेरा हाथ थामो,

मेरी सहायता करो। इसमें सन्देह नहीं, तुम्हें कष्ट होगा, पर इसके बदलेमें जो आत्मिक आनन्द, जो सच्चा सुख प्राप्त होगा उसका मोल कौन समझ सकता है ?

मनोरमाने अज्ञा-भावसे अपने पतिकी ओर देखा, और प्रेमसे भुजायें फैला दीं।

घोड़े की जीवनी

[पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (सन् १८५८ वि०-वर्त्तमान)—ये कवि कहानीलेखक और उपाध्यायकार हैं। इनकी कहानियां सुन्दर होती हैं। इनकी भाषा-शैली और रचना-क्रममें विशेषता है जो इनकी अपनी कहानी जा सकती है।]

“तुम मनुष्य हो ? मनुष्योंका दावा है कि सारी आदमीयत उन्हींकी सम्पत्ति है। प्रेम, दया, करुणा, भावुकता जितने कोमल भाव हैं, सबके स्वामी वे ही हैं। पर, बताओ तो, तुमने कभी हमारे दुखोंकी ओर भी देखा है ? कभी यह सोचनेका कष्ट भी उठाया है कि हम अभाग पशुओं पर तुम्हारी कृपासे क्या बीतती है ? हम तुम्हारी गुलामी कर, तुम्हारे इशारोंपर नाच कर, तुम्हारे लिये खून पसीना कर—पुरस्कारमें क्या पाते हैं ?

“हना है, तुम स्वभावतः दास्य-विरोधी और स्वाधीनताके समर्थक हो। पर, सच बताना, तुमने कभी हमारी गुलामीका, परवशताका, विवशताका और दास्यजन्य कष्टोंका ध्यान किया है ? भयङ्कर ग्रीष्ममें, जब कि तुम खसकी टट्टियोंमें, बिजलीके पंखोंकी सहायता पानेपर भी, ‘हाय ! हाय !!’ करते रहते हो, तुम्हारे गुलाम, अभाग

घोड़े प्रचण्ड-मार्तण्डकी अग्नि-किरणोंसे युद्ध करते रहते हैं। प्रलयङ्कर-पावसमें, जब कि तुम बारहदरियांमें बैठकर वर्षाकी बहार देखते हो, अधिकसे-अधिक सुख पानेकी चेष्टा करते हो तब, तुम्हारे हाथों बिके घोड़े, पसीनेसे सराबोर होकर, नत-मस्तक, कम্পित कलेवर, एक-सड़कसे दूसरी और तीसरीसे चौथी गलीका कीचड़ छानते हैं। सच बताना। उस समयकी हमारी पराधीनता तुम्हारे हृदयपर कुछ चोट पहुंचाती है? तुम्हारी मनुष्यता उसे देखकर कांपती है? तुम्हारी दया उमड़ती है? करुणा फूटती है? मैं समझता हूं, नहीं। तुम पत्थर हो, निर्दय हो, स्वार्थी जन्तु हो, राक्षस हो। तुम अपनेको मनुष्य कहकर देवी मानवताका अपमान न किया करो।)

२

“गोरखपुर जिलेके एक देहाती वैद्यकी सेवामे मेरी माताके सुखके, पांच वर्ष बीते थे। तुम्हारे (मनुष्योंके) सुखसे हमारा सुख कहीं छोटा होता है। तुम्हारा सुख संसारको लूटकर भी सुखी नहीं होता। पर, हमारा छोटा सुख भरपेट भोजन, वह भी कोरा चना, घास और थोड़ा कम परिश्रम पर ही ‘बस’ हो जाता है। मेरी मांको उक्त वैद्यराजके यहां यही सुख था। वैद्यजीने मांको गुलामीकी हाटसे बीस रुपयेमें खरीदा था। बीस रुपयोंमें ही अश्व-जगतका एक जीव सदाके लिये गुलामीकी जंजीरमें बांध दिया गया ॥

“वैद्यजी अपनी गुलाम घोड़ी(मेरी मां)को सालमें कम-से-कम दो महीने मंगनीमें दिया करते थे। शेषमें एक गांवसे दूसरे गांव

जानेके समय, मांकी पीठपर कुम्भकर्णकी तरह स्थूल और लम्बोदरकी तरह तोंदवाले वैद्यराज आसीन होते। मांका साधारण कद और साधारण ही शरीर था। वैद्यजीका बोझ—जो तीन मनसे किसी भी हालतमें कम नहीं था—मांके लिये आवश्यकतासे अधिक था। उनके उछलकर चढ़ बैठते ही बेचारी मां धनुषकी तरह झुका जाती थी और लम्बी सांस लेने लगती थी। फिर भी, सुखमें पड़ी हुई कांटेदार लगाम और वैद्यजीके हाथमें सुशोभित विकट दण्डके भयसे गऊकी तरह सरल-प्रकृति होकर मांको निश्चित स्थानतक जाना पड़ता था। मांने एक दिन प्यारसे मेरा सिर सूंघते-सूंघते जब यह कहा कि—‘बेटा, तू मुझ गुलामकी गाढ़ी कमार्द है। तेरे जन्मसे पन्द्रह दिन पूर्वतक वैद्यराज मुझे सवारीमें लेते थे और मेरे गर्भधारण कष्टको चरम सीमापर पहुँचाते थे।’—तब मारे ग्लानिके मेरी आंखोंसे आंसू निकल आये, मारे क्रोधके मेरे कान खड़े हो गये !! मैंने हिनहिनाकर कहा—‘आने दो दुष्टको। मारे लत्तियोंके....’। मुझे रोकते हुए मांने समझाया—‘तू गुलाम है। गुलाम क्रोध नहीं कर सकते। चापलूसी और नतमस्तक होकर स्वामीकी आज्ञाका पालन ही उनका परम कर्तव्य है।’ मांने और भी कहा—‘फिर भी, हमें बड़ा सुख है। देहातमें रहनेके कारण और वैद्यराजकी दासी होनेके कारण, भर पेट हरी-हरी घास तो मिल जाती है। सेर आधसेर चने तो मिल जाते हैं। ईश्वरकी कृपा है कि, हम किसी बनारसी एक्केवानके हाथमें नहीं पड़े। नहीं तो, यमराज भूल जाते। नरक तुच्छ जान पड़ता। हमें यहां बड़ा सुख है। ईश्वरसे प्रार्थना कर कि, इसी ढोढ़ीपर हमारे दास्यमय जीवनका अन्त हो।’ मांकी बात सुनकर मैंने एक

लम्बी सांस ली । गलाम अपनी विवशतापर इससे अधिक कर ही क्या सकता है ।

“पापी मनुष्य । तेरी स्वार्थ-प्रियताका स्पष्ट चित्र हम मूक पशु ही, अपना हृदय चीरकर, दिखला सकते हैं । तोतेको बधिकों द्वारा बन्दी बनाकर, लोहेके पिंजड़ेमें डालकर, उनकी मीठी आवाजके लिये, तू ही तो उन्हें ज़हरकी तरह ‘मिरचे’ खिलाता है । गऊ जब अपने प्यारे बछड़ेको अपना स्तन-पान कराना चाहती है (तब तू ही उस गो-शावकके अंशपर हाथ साफ़ करता है) फिर, उस बछड़ेको तू ही तो उसकी मांस बिलग करता है । फिर, बूढ़ी हो जाने पर—कहते हुए पशुताकी भी ज़बान लडखड़ाती है—उस बेचारी गऊको तू ही तो चार पैसोंके लिये, हाथको मलके लिये, कसाइयोंके हाथ बेच देता है । तेरे डण्डे खाकर, अपना रक्त सुखाकर, जो बैल तेरी खेतिहरी करता है उसे तू ही तो, वृद्ध होने पर, मार-मार कर, राक्षसोंके हाथ, राक्षसोंका पेट भरनेके लिये, बेच देता ” धिक्कार भी तेरे नामसे घृणा करता है ॥)

“मेरी मांकी उमर ढलते देख, स्वार्थी वैद्यने उसे बेच देनेका निश्चय किया । मेरी मांको और मुझे भी वैद्यके उक्त निश्चयका कुछ भी पता न था । वह तो, जब एक दिन घोड़ोंका व्यापारी हमें वैद्यराजके थानसे खोलकर ले चला तब मालूम हुआ । वैद्यजीने हम दोनोंको बेचकर अपने पुराने बीस रुपये लौटा लिये । उनकी समझसे हमारी पांच वर्षोंकी सेवा उन्हें सुफ़तमें ही मिली ।

“इधर व्यापारीके साथ एक दुर्बल और बूढ़ा घोड़ा और था

उसने जब देखा कि व्यापारी हमें भी खरीद रहा है तब हिन-हिनाकर अपनी भाषामें कहा—‘तुम्हारे भाग्य फूट गये। यह राक्षस, जो तुम्हें खरीद कर ले जाना चाहता है, घोड़ोंका व्यापारी है। तुम अपना ध्यान न छोड़ो!’ उस घोड़ेकी बात सुनकर मां रोने लगी। उसने व्यापारीको देखकर उछलना कूदना और पैर फटकारना भी आरम्भ किया। पर, सब व्यर्थ। स्वयं वैद्यराजने, मोटे डण्डेकी सहायतासे, प्रहार-पुरस्कार देकर, हमें अपने ध्यान परसे हटा दिया। हम लोग रेलके डब्बोंमें भरकर ‘हरिहरक्षेत्र’के मेलेमें लाये गये।

“तुमने केवल इतिहासोंमें, या ‘अलिफ़लैला’में पढ़ा होगा कि, किसी समय एक देशके लोग दूसरे देशके लोगोंको गुलाम बनाकर, कुछ रुपयोंपर बाज़ारमें बेचते थे। पर, हमने उस क्रय-विक्रयका क्रूर नाटक स्वयं देखा है। उस दुःखका अनुभव प्राप्त किया है। पर हां, उसमें मनुष्य मनुष्यके प्रति नहीं, अपने बराबरी वालोंसे नहीं; पर, अपनेसे कहीं दुर्बल, असभ्य, मूक पशुओंपर अत्याचार करते थे (अभी करते ही हैं।)। उस गुलाम-बाज़ारमें कई हजार गुलाम घोड़े पंक्तियोंमें खड़े थे। प्रायः सबकी अगाड़ी-पिछाड़ी कसी थी। बहुतोंके मुखपर ‘तोबड़े’ भी बंधे थे। मैं भी अपनी मांके साथ एक स्थानपर बंधा था। हम दोनों अपने-अपने भविष्यत्की सुन्दरताके लिये भगवान्से प्रार्थना कर रहे थे और कर रहे थे यह कामना कि हम दोनों एक ही आदमीके हाथ बिकें। पर, कर्त्ताकी कुछ और ही इच्छा थी। मेरा ग्राहक—नहीं नहीं—मेरे प्राणोंका ग्राहक आ पहुँचा। उसका भयङ्कर चेहरा कह रहा था कि वह कोई एक्केवान है। उसने पहले मुझे दूरसे देखा, फिर

निकट आकर मेरे पांवकी ओर दृष्टि की। इससे उसका यह जाननेका अभिप्राय था कि मैं 'दोखी' तो नहीं हूँ। मनुष्योंकी ज़वर्दस्ती तो देखो, ब्रह्माके दोषको हमारा दोष समझते हैं। तीन ही पैर लाल क्यों हुए? दोषी है। पूंछ छोटी क्यों हुई? गर्दन ऊंची क्यों नहीं है? दोषी है। वाहरी मनुष्य जाति।

“खैर, मुझमें, मेरे अभाग्यसे, वैसा कोई दोष नहीं था। अतः एक्केवानने व्यापारीसे पूछा—

‘कितने दिनोंका बच्चा है जी?’

‘अरे भाई। इसे बच्चा क्यों कहते हो? यह तो साढ़े पांच वर्षका पट्टा है। खरीदते ही सवारी देने लगी।’

‘मुझे सवारी तो करना नहीं है। एक्केमें निकालना है। खैर इसकी चाल तो दिखाओ।’

“व्यापारीने मुझे मेरी माताके पार्श्वसे हटाया। आह। मैं क्या जानता था कि, यही हटना हमेशाके लिये हटना होगा। पर, मेरी अभागिनी मां समझ गयी। वह हिनहिनाकर रोने और पगहा तुड़ाने लगी। पर व्यापारीके क्रूर प्रहारके सम्मुख उसकी एक भी न चली। व्यापारीने कुछ दूरतक मेरी पीठपर बैठकर मुझे दौड़ाया। कुछ दूर एक्केवानने भी दौड़ाया। तीस रुपयोंमें सौदा पट गया। वह एक्केवान रुपये देकर मुझे ले चला। हाय, उसी वक्त तो वह जोरसे चिल्लायी थी ॥ मेरी मांने कहा—

‘(‘चलो बेटा! हायरी गुलामी, गोया जानवरोंको हृदय होता ही नहीं।’ बेटा! एक बार मेरे पास आओ

“मैं मांकी ओर बढ़ा, पर, रोक लिया गया। एक्केवानने मेरी

पीठपर एक डण्डी जमाकर दूसरा ही रास्ता देखनेको कहा। उधर मेरी मां व्यग्र होकर उछल रही थी। प्राण छोड़कर हिनहिना रही थी। जब उसने देखा कि एक्केवान ज़बरदस्ती मुझे मार की सहायतासे, घसीटे लिये जा रहा है तब वह सहन न कर सकी। बन्धन तोड़ाकर मेरे पास आयी और लगी प्रेमसे मेरा शिर सूंघने !!

“उस ओर बाज़ारमें हल्ला मच गया। ‘जानवर भागा ! घोड़ी भागी !! पकड़ो ! रोको !! दसपांच आदमी डण्डे लेकर मांके पीछे पड़ गये। अभागिनीने मुझे आंखभर देखा भी नहीं, जीभर प्यार भी न कर सकी और लगी डण्डे खाने !’ निर्दय स्वार्थ ! —पापी मनुष्य !—दुःखद दास्य !

8

“मैं दुःख ही का ग्रास बननेके लिये पृथ्वीपर आया था। तभी तो वह एक्केवान बनारसी निकला। वह काशीके भद्वैनी महालका, एक अत्यन्त गरीब, अत्यन्त मूर्ख और अत्यन्त क्रूर मनुष्य है। उसके परिवारमें एक छोटा भाई, तीन बच्चे, स्त्री और उसकी बूढ़ी मां हैं। उन सबका पेट भरनेवाला वही है। उसमें अभिमानीनी मनुष्य-जातिके और भी अनेक गुण हैं। वह पक्का जुआड़ी, एक नम्बरका लम्पट और एक ही नशेबाज़ है। एक तो गरीब, दूसरे कुटुम्बी, तीसरे फ़िजूलखर्च। ऐसा ही स्वामी मेरी किस्मतमें लिखा था।

(“तुम (मनुष्य) भर पेट खा लेते हो, नींदभर सो लेते हो, हंसते हो, पर भाई (चाहे तुम हमें भाई न समझो पर ईश्वरके यहांसे तो हम सब ‘भाई’का सम्बन्ध जोड़कर ही आये हैं !) गुलामी क्या

है, इसे तुम क्या जानो। उसके ज्ञाता हमीं हैं और उस ज्ञानकी प्राप्ति तुम्हारी मूर्खताकी कृपासे होती है।)

“डण्डोंकी सहायतासे पन्द्रह दिनोंमें ही एक्केकी चालका ज्ञाता बनाकर जिस एक्के में मैं जोता गया वह अपनी उपमा आप ही था। टूटी हुई छतरी, बांसका कमज़ोर ‘बम’, महीनेमें चार बार निकल जानेवाला, नहीं नहीं, ‘सवारों’को ज़मीन सुंघानेवाला पहिया, अस्सी बरसोंका पुराना असबाब—सब कुछ अद्वितीय था। उसमें जो कुछ कसर थी उसे यहांकी सड़कें पूरी कर देती थीं। मैं बराबर, पांच बजे सवेरेसे दो बजे दिन और पांच बजे शामसे दो बजे राततक, इधर-से-उधर और उधर-से-इधर दौड़ाया जाता था। और ? और अठारह घण्टे कठिन श्रम करनेवाले इस मज़दूरको सेरभर चने और एक छोटा गट्टर घासका मिलता था। पेट जैसे भरता था वह मैं जानता हूं, पर परिश्रममें कभी कमी नहीं हुई। वही रफ़्तार जो एक बार चली वह मेरे मरते दम तक चलती गयी।

“स्वामीको मेरे चलनेका और ज़रा भी अड़नेका जितना ध्यान रहता उसका षोड़शांश भी मेरे भोजन और जलपानका नहीं। डण्डे और चाबुक तो बात-बातमें मिलते थे। आह ! क्या ही अच्छा होता यदि विधाताने हमारी खुराक ‘भार’ ही बनायी होती। पापी पेट तो भर जाता ? अपमानसे तो बचता ? पीठमें पीड़ा तो न होती ?

“ज़बरदस्ती चौमुहानीपरके सिपाहीको एक या दो पैसे देनेके कारण स्वामीको जो क्रोध होता उसका दमन हमारी पीठ-पूजासे होता ! दारोगाके लिये बेगार जानेके कारण, कम पैसे मिलने या

बिलकुल न मिलनेके कारण उत्पन्न हुआ क्षोभ मेरे मुंहमें कांटेदार लगाम गड़ाकर ही शान्त होता । (‘आन करै अपराध कोऊ आन पावै फलभोग’की तस्वीर, हमें दिनमें अनेक बार देखनेको मिलती । इन सब दुःखोंपर महादुःख यह कि कोई अपना साथी नहीं, कोई अपने करुण-स्वरमें सहानुभूतिकी ‘आह’ मिलानेवाला नहीं । हायरे हमारा जीवन ॥

५

“जेठका महीना था । मनुष्योंके लिये भयंकर गर्मी पड़ रही थी । सड़कें तवा हो रही थीं । मध्याह्नका सूर्य खोपड़ी चाट रहा था । पर मैं ‘चावुक’के इशारेपर मैदागिनीकी चौमुहानी पार करता हुआ कचहरीकी ओर दौड़ा जा रहा था । बड़े ज़ोरोंकी—ईश्वर गवाह है, बड़े ज़ोरोंकी प्यास लगी हुई थी । मेरा तालू चटक रहा था, कलेजा मुंहको आ रहा था, चमड़ेकी पट्टियोंसे घिरी आंखें बाहर निकल जानेको तैयार थीं । फिर भी मैं बराबर दौड़ाया जा रहा था । निर्दय मनुष्य मेरी भाषा क्या जानें ; भाव भी नहीं जानते । अपनी प्रार्थना सुनाने, कुछ इच्छा प्रकट करनेके विचारसे मैं एक बार रुका, पर, व्यर्थ ! चावुककी मससपर्शी चोटोंने गरज कर कहा—‘आगे बढ़ गुलाम ।’

“‘आज’ आफिसके आगे हमारे लिये पत्थरका एक हौज बना है । उसमें मैंने अनेक बार जलपान किया है, पर कभी आवश्यकता पड़नेपर नहीं । कभी घण्टों प्यासा रहनेके बाद वहां पानी मिला और कभी बिना प्यासके ही मालिकके सुखसे—‘अवे पी ले ! फिर पानी नहीं मिलनेका ।’—सुनकर, अनिच्छासे भी, वहांका

गन्दा, गर्म और अपवित्र जल पीना पड़ा था। पर, (उस दिन मैं तडप कर रह गया, आंखें ललच कर रह गयीं, हृदय मचल कर रह गया, प्राण पुकार कर रह गये) मुझे पानी नहीं पीने दिया गया। किसी तरह जगतगंजकी चौमुहानीके पास पहुँचा।

“दूरहीसे मैंने और मालिकाने देखा, चौमुहानीके पास, बीच सडकपर, एक एक्का खड़ा था। उसका एक्केवान न जाने कहां था। तिसपर, दूसरी ओरसे हमारे एक्के और उस टमटमका इधर उधर होना असम्भव था। संयोग तो देखिये, चौमुहानी परका पुलीसमैन भी कहीं मर गया था—उसका भी पता नहीं था।

“टमटमपरके सवार कोई हिन्दुस्तानी बाबू जान पड़ते थे। उनसे पुलीसकी वह ग़फ़लत बरदाश्त न हुई। शायद वे जल्दीमें भी थे। उन्होंने जोरसे पुकारा—

‘सिपाही। ओ सिपाही ॥ कहां गया?’

“सिपाही किसी कोनेमें वर्दी-पेटी उतारे गर्मीके नामपर दम तोड़ रहा था। एकाएक शासनका भयंकर स्वर और अपनी ग़फ़लतको देखकर वह हडबडा गया। सामने आकर जो देखा कि सडक रोककर खड़े एक दरिद्र एक्केके कारण उसपर फटकार पड़ना चाहती है, तो, फ़ौरन डण्डा सीधा कर उस एक्केकी ओर झपटा। इधर उस एक्केका एक्केवान भी, जो पेशाब करनेके लिये रुक गया था, लाल पगड़ीके डरसे दौड़कर एक्केपर डट गया और उसे आगे बढ़ानेका उपक्रम, शीघ्रताका नाट्य करते हुए, करने लगा।

“मगर परशुरामका परशु कभी व्यर्थ उठता है? ‘बदमाश! हरामज़ादे!’ कहकर सिपाहीने एक्केवानकी ग़लतीके लिये उसके

जानवरपर डण्डे बरसाना आरम्भ कर दिया। एक दो नहीं, दस-बीस डण्डे उस अभागे जीवपर, बड़ी ही निर्दयतासे, पड़े। वह तिलमिला उठा। इतनेहीसे समाप्त नहीं हुआ, उस एक्केवानने भी उसे पीटपाटकर आगे बढ़ाना आरम्भ किया। हाय। अभागे पशुओ! किस पापके प्रायश्चित्तके लिये तुम मृत्युलोकमें, खासकर बनारसमें, घोड़ोंके रूपमें भेजे जाते हो ?

“उस घटनासे लुब्ध होकर मैंने ईश्वरसे नरजातिके नाशकी प्रार्थना की और यह वरदान मांगा कि,—प्रभो। मरते-मरते मुझे एक बार युद्धस्थलका घोड़ा बना दो। मैं मनुष्य जातिका नाश देखकर अपने दुःखित आत्माको प्रसन्न करूंगा। उनके रक्तसे अपने पैर साफ करूंगा। पर, यह मेरी किस्मतमें कहां था ?

* * * * *

“थोड़ी ही दूर जानेपर मुझे अपनी जातिके उस जीवको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसपर क्षणभर पहले अत्याचार—राक्षसी अत्याचार—हुआ था। हाय। वह जीव और कोई नहीं मेरी वृद्धा माता थी। उसकी ठठरी-हड्डी दिखाई पड़ती थी। वह अविराम अश्रुपात कर रही थी।

(“मेरा भूखा, घ्यासा, झुलसा, थका, दुःखित, अपमानित तथा माताकी दुर्दशा देखकर पीड़ित पापी शरीर, मांके पास ही लड़खड़ा कर गिरा। मेरे जीवन नाटकका ‘ड्राप-सीन’ हो गया !! खेल खतम हो गया !! ”)

रामायण (अयोध्याकाण्ड)के मुख्य पात्रोंपर धर्म-संकट और उनका निर्वाह

[वल्लभद्रप्रसाद मिश्र (संवत् १९६१ वि०—वर्तमान)—प्रयाग विश्वविद्यालयसे एम० ए० की डिग्री लेकर आप सम्पादन-कलाकी ओर झुके। विद्यार्थी होते हुए भी अखबारनवीसीको ही अपना ध्येय मानते थे। दैनिक तथा साप्ताहिक 'प्रताप'में कुछ कालतक रहकर सन् १९३४ ई०से दैनिक 'भारत'का सम्पादन करने लगे हैं। आपकी शैली आपकी रुचि एवं व्यवसायकी अनुकूल ही सरल, स्पष्ट और स्वाभाविक है।]

रामचरितमानसका सबसे उत्तम अंश अयोध्याकांड कहा जाता है। इस कांडकी 'दो विशेषताएं' हैं। प्रथम तो इस कांडमें अन्य कांडोंकी अपेक्षा मानव हृदय तथा उसके भिन्न-भिन्न प्रकारके भावोंका अधिक स्वाभाविक वर्णन मिलता है। दूसरी विशेषता यह है कि इस कांडमें प्रायः प्रत्येक मुख्य पात्रपर एक या अनेक बार धर्म-संकट (conflict of duty) पड़ा है और उसका बड़ा ही अच्छा निर्वाह हुआ है। पात्रोंके सामने दो विरोधी कर्तव्य आ जाते हैं और उन्हें उन दोनोंपर विचार करके अपना मार्ग निश्चित करना पड़ता है। यहां हम इस कांडकी दूसरी विशेषता अर्थात् पात्रोंके धर्म-संकट तथा उनके निर्वाहपर विचार करेंगे।

यह विचार करते समय कि अमुक पात्रने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया है वह ठीक है या नहीं, एक बड़ी कठिनाई हमारे सामने आ जाती है। यदि हम उनको धार्मिक अवतारी अथवा आदर्शपुरुषकी दृष्टिसे देखते हैं, तो हमारा निर्णय कुछ

और ही होता है ; और यदि हम उन्हें राजनीतिक दृष्टिसे देखते हैं तो हमारा निर्णय दूसरा होता है ।

अयोध्याकांडमें सबसे पहले धर्म-संकट कैकेयीके सम्मुख उपस्थित होता है । वह रामका राज्याभिषेक सुनकर आनंद मनाये या उनको बन भेजकर अपने पुत्र भरतको राज्य दिलाये । यथार्थमें इसे हम धर्म-संकट नहीं कह सकते, क्योंकि यहां दो विरोधी कर्तव्य कैकेयीके सामने एक साथ नहीं आते । इसे हम अद्भुत विचार-परिवर्तन कह सकते हैं । फिर भी इस विचार-परिवर्तनपर विवेचना करना विषयान्तर न होगा, क्योंकि दोनों विचार हैं अलं त विरोधी ।

मंथरा जब मुंह लटकाये रामके अभिषेकका समाचार कैकेयीको सुनाने जाती है, तो कैकेयी उसे उदास देखकर सबसे पहले रामकी कुशल पूछती है और भरतकी उसके बाद । यथा—

‘सभय रानि कह कहसि किन, कुसलु राम महिपालु
लखन-भरत-रिपुदमन सुनि, भा कुबरी उर सालु ॥’

इसके बाद जब मंथरा बताती है कि रामको कल राज्य मिलेगा तो कैकेयीको बड़ी प्रसन्नता होती है । वह कहती है—

‘राम तिलकु जो सांचेहु काली ।

देउं मांगु मनभावन आली ।’

मंथरा कैकेयीको अब यह समझाती है कि राजाने जान-बूझकर भरतको ननिहाल भेजा है और कौशल्याने रामको राज्य दिलानेका यह अच्छा अवसर सोचा है । यह बात भी कैकेयीके हृदयमें रामके प्रति कोई विरोध उत्पन्न नहीं कर पाती, वरन्

उसे चैरीका इस भांति समझाना बुरा लगता है। वह मंथराको आपसमें फूट करानेके लिए डांटती है—

‘पुनि अस कबहुं कहसि घर फोरी ।

तब धरि जीभ कटावौं तोरी ।’

* * *

‘प्रानतें अधिक रामु प्रिय मोरे ।

तिनके तिलक छोभु कस तोरे ॥’

यहांतक तो कैकेयीका चित्त ठीक रहता है और रामका तिलक होना ही उसे सर्वथा उचित दिखाई देता है ; परन्तु इसके बाद मंथराका रूठकर यह कहना—

‘अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ।’

‘जर तुम्हारि चह सवति उखारी ।’

‘भामिनि भयउ दूध की माखी ।’

आदि बातें उसका मन फेर देती है। वह रामकी पक्की शत्रु हो जाती और कहती है—

‘नैहर जनसु भरब बरु जाई ।

जियत न करब सवति सेवकाई ।’

अब तो उसे केवल इतने ही से संतोष नहीं है कि भरतको राज्य मिले, वह यह भी चाहती है कि राम बनको अवश्य जायं। उसे अब रामके नाश ही में अपना सुख दिखाई देता है।

कैकेयीका यह निश्चय, चाहे हम उसे किसी भी दृष्टिसे देखें, उचित नहीं जान पड़ता। यदि हम कैकेयीको एक उच्चकुलकी स्त्री मानकर इसपर विचार करें, तो उसका यह निर्णय

नितान्त अनुचित है। अपनी ही सौतके लड़के रामको, जो उसे स्वयं अपनी मातासे अधिक मानता है, बिना किसी अपराधके बनवास दिलाना भला कौन उचित कहेगा ! राजनीतिक दृष्टिसे भी कैकेयीका यह कार्य अनुचित है। उसे विचार लेना था कि दशरथजी रामके बिना नहीं जी सकते तथा भरतको भी इससे प्रसन्नता न होगी। परन्तु जिस समय हमें यह स्मरण हो आता है कि कैकेयीकी 'गड़ गिरा मति फेरि,' तो तुरन्त ही वह हमें निर्दोष जान पड़ती है और सारा अपराध भवितव्यताके ऊपर चला जाता है।

दूसरा धर्म-संकट राजा दशरथके सामने उपस्थित होता है। वह अपने प्राणोंसे प्यारे रामको, कैकेयीको वचन दे चुकनेके कारण, बन भेजें अथवा उन्हें घर रखकर अपने प्राणको तोड़ दें। उन्होंने रामको तिलक करनेकी तैयारी यही जानकर की थी कि यह कार्य सबको अच्छा लगेगा। उन्हें स्वप्नमें भी यह ध्यान न आया था कि कैकेयी राम-बनवासका वरदान मांगेगी, अन्यथा वह उससे कभी वचन-बद्ध न होते। वह कैकेयीसे कह रहे हैं—

‘भामिनि भयेउ तोर मनभावा ।

घर-घर नगर अनंद बधावा ।’

परन्तु उसका मनभाया तो अब रामके बनवास ही में है। दशरथजी यहांतक राजी हो जाते हैं कि भरत ही युवराज हों। राम बन न जाने पायं, चाहे उनके प्राण स्वयं ही क्यों न चले जायं।

‘मांगु माथ अबहीं देउं तोही ।

राम विरह जनि मारसि मोही ।’

अन्तमें जब कैकेयी किसी भांति नहीं मानती, तो

‘रघुकुल रीति सदा चलि आई ।

प्राण जाहिं बरु वचन न जाई ।’

के अनुसार उसकी बात माननी पड़ती है। वह अपने वरदान देनेसे बड़े लज्जित होते हैं—

‘हृदय मनाव भोर जनि होई ।

रामहिं जाइ कहै जनि कोई ।’

दशरथका यह निश्चय हमें तो उचित नहीं जान पड़ता। यद्यपि उन्होंने अपना वचन कैकेयीको दे दिया था, तो भी वे उसका सब अवस्थाओंमें प्रतिपालन करनेके लिए बाध्य नहीं थे। उन्होंने यह समझते हुए वचन दिया था कि कैकेयी रामके विरुद्ध कभी कोई वरदान नहीं मांगेगी। रामकी ही शपथ खाकर वचन देना इस बातका प्रमाण है—‘भामिनि राम शपथ सत मोहीं।’ यद्यपि यह रघुकुलरीति थी कि ‘प्राण जाहिं बरु वचन न जाई’ तथापि दूसरी ओर यह भी तो रघुकुल-रीति थी कि युवराज-पद सबसे बड़े पुत्र ही को मिले; अतएव राजा दशरथने जब रघुकुल-रीति तोड़ी ही, तो पहली रीति तोड़ देते, जिससे सब काम बन जाता। हम समझते हैं कि दशरथको उस विपत्तिके समयमें इस दूसरी रीतिका ध्यान न रहा होगा, नहीं तो वह ऐसा निश्चय कदापि न करते।

तीसरा धर्म-संकट रामचन्द्रजीके समुख उपस्थित होता है। उनका धर्म-संकट यह है कि वे पिताकी आज्ञा मानकर बनवास करें अथवा उसे अनुचित समझकर अयोध्यामें रहें और राज्य करें। आज रामचन्द्रजीको कुलगुरु वशिष्ठ उनके घर जाकर उन्हें उनके

राज्याभिषेककी सूचना देते हैं, जिसे सुनकर उनका सहज शुद्ध स्वभाव उसमें अनौचित्य पाता है। उनका स्वभाव उनसे यह कहलाता है—

‘विमल वंश यह अनुचित एकू ।

अनुज विहाइ बड़ेहिं अभिषेकू ।’

दूसरे ही दिन उनको एक बिलकुल विपरीत आज्ञा मिलती है। कैकेयीकी आज्ञा पाकर सुमंत रामचन्द्रको राजा दशरथके पास बुलाने जाते हैं। कैकेयीसे पूछनेपर उन्हें सब बात मालूम होती है। रामको विदित होता है कि उन्हें चौदह बरसके लिए बनवासकी आज्ञा मिली है। यद्यपि यह आज्ञा पहले दिनके निश्चयके बिलकुल विपरीत है, परन्तु उसे माननेमें वे तनिक भी संकोच नहीं करते; उसे अपना बड़ा भाग्य समझते हैं।

‘सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी ।

जो पितु-मातु वचन अनुरागी ।’

यदि सच पूछा जाय तो रामके सामने यह धर्म-संकट आता ही नहीं है कि वह बनको जाय या न जाय। वे तो मातापिताके आज्ञाकारी पुत्र हैं। उन्हें बन जानेमें प्रसन्नता होती है और यह प्रसन्नता और भी बढ़ जाती है, जब यही उनके मातापिताकी भी आज्ञा है। वे कहते हैं—

‘सुनिगन मिलनु विसेषि बन, सबहिं भांति हित मोर ।

तेहि महं पितु आयसु बहुरि, सम्यति जननी तोर ॥’

भरतका राज्य पाना भी रामके लिए कैसा आनन्दप्रद है—

‘भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू ।

विधि सब विधि मोहिं सनमुख आजू ॥’

राम वहांसे आकर हंसते हुए कौशल्याके पास पहुँचे और उनको बनवासका समाचार इस भांति सुनाया—

‘पिता दीन्ह मोहिं कानन राज ।

जहं सब भांति मोर बड़ काजू ॥’

और उनसे बन जानेकी आज्ञा मांगी । रामने यहां ‘अनुचित उचित विचार तज’कर और ‘पितु बैन’ पालन करके अपूर्व पितृभक्ति दिखलायी है । हमें यहां विचार करना है कि रामचन्द्रजीने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया, वह ठीक है या नहीं । इस प्रश्नपर तुलसीदासजीके समकालीन तथा उनके परिचित सुकवि रहीम अपनी सम्मति इस भांति देते हैं—

अनुचित वचन न मानिये, यदपि गुरायसु गाढ़ि ।

है ‘रहीम’ रघुनाथ तैं, सुजस भरतको बाढ़ि ॥

इस विषयपर दो प्रकारसे विचार करना उचित है । यदि हम रामको आदर्श पुत्र और—

‘प्रसन्नतां यो न गतोऽभिषेकतस्तथा न मस्ती वनवासदुःखतः’^१वाले विचारोंको मानकर विचार करें तो उनका इस विषयका निर्णय सर्वथा उचित जंचता है । दूसरी ओर यदि हम रामको राजनीतिज्ञ मान लें, तब तो यही कहना पड़ता है कि रामने बन जाकर भारी भूल की । हम देखते हैं कि सारी अयोध्याको उनके बन जानेकी आज्ञा सुनकर दुःख हुआ है और अयोध्यावासी राजा दशरथकी इस आज्ञाको अनुचित मानते हैं । अतएव राम सहज ही में बन न जाकर युवराजपद ले सकते थे । राम यह भी जानते हैं कि राजा दशरथ स्वयं भी उनके इस आज्ञा-उल्लंघन ही में सुखी होंगे । वे

उनके बिना जी नहीं सकते। उधर भरत भी उनके इतने भक्त हैं कि रामके युवराजपद ले-लेनेमें उन्हें प्रसन्नता ही होगी। रघुकुलरीति तो यह थी ही कि युवराजपद सबसे बड़ेको मिले। अतएव राम अपने पिताकी आज्ञाको न मानकर सारी आपत्तियोंका निवारण कर सकते थे। परन्तु रामको तो यह रीति पहले ही अनुचित जान पड़ी थी, तब वे भला पितृ-आज्ञा उल्लंघन करके युवराजपद कैसे स्वीकार करते !

रामका बन जाना निश्चित होते ही एक साथ कई पात्रोंपर धर्म-संकट आ पड़ते हैं। कौशल्या रामको बन भेजें या न भेजें, सीता रामके साथ बन जायं या घर रहें, यही प्रश्न लक्ष्मणके सामने भी है। सुमित्रा लक्ष्मणकी रामकी सेवामें भेजें या नहीं और स्वयं राम इन दोनोंको बन ले जायं या घर ही पर रहनेकी आज्ञा दें; एक अजब गड़बड़ी पैदा हो गयी है। प्रायः प्रत्येक मुख्य पात्रके हृदयमें दो विरोधी कर्तव्योंका युद्ध हो रहा है। यहां हम इन सबपर क्रमशः विचार करेंगे।

कौशल्याको राम-बनवासकी आज्ञा सुनकर एक बड़ा भारी धक्का पहुँचता है। कहां तो इस विचारमें मग्न हैं कि आज रामको युवराजपद मिलेगा और कहां बिना किसी पूर्व सूचनाके एकबारगी उनको रामबनवासकी ख़बर मिलती है। यदि उन्हें इस बातकी पहलेसे तनिक भी शंका होती, तो उनके हृदयपर इतनी अधिक चोट न बैठती। वे राम-बनवासकी बात सुनकर बड़े ही धर्म-संकटमें पड़ जाती

है। कौशल्याके धर्म-संकटको गोखामीजीने इस भांति वर्णित किया है—

राखौं सुतहि करौं अनुरोधू ।
 धरम जाइ अरु वंधुबिरोधू ॥
 कहैं जान बन तौ बड़ि हानी ।
 संकट-सोच-बिबस भै रानी ॥

इस कठिनार्द्रको सुलभानेकी एक युक्ति कौशल्याके ध्यानमें आती है। वह रामसे यह पूछती हैं कि बन जानेकी आज्ञा तुमको केवल तुम्हारे पिताने ही दी है या कैकेयीने भी। यदि पिताने ही आज्ञा दी हो, तो मैं तुम्हें बन न जानेकी आज्ञा देती हूँ और तुम माताकी आज्ञा पिताकी आज्ञासे बड़ी जानकर घरपर रहो।

‘जौं केवल पितु आयसु ताता ।
 तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।’

परन्तु वहां तो माता व पिता दोनोंकी यही आज्ञा है, यह जानकर फिर कौशल्या संकटमें पड़ जाती हैं। अंतमें उनका क्षी-धर्म तथा राम और भरत दोनोंके प्रति समान प्रेम उनसे रामको बन जानेकी आज्ञा दिला देता है।

‘बहुरि समुक्ति तिय धरसु सयानी ।
 राम-भरत दोउ सुत सम जानी ।
 तात जाउ बलि कीन्हेंहु नौका ।
 पितु आयसु सब धरम क टीका ।’

कौशल्याके इस निर्णयपर विचार करते समय यद्यपि उनके

स्त्री-धर्मको मातृ-धर्मपर प्रधानता देना कुछ अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु उनका भरतको राम ही के समान अपना पुत्र समझनेका विचार इस अनौचित्यको बिल्कुल दूर कर देता है। यदि किसी माताके दो समान पुत्र हों और उनमें एकको बनवास व दूसरेको युवराजपद मिलनेवाला हो, तो वह कैसे यह कहेगी कि दूसरेको युवराजपद न देकर पहलेको दिया जाय। अतएव कौशल्याका यह निर्णय अनुचित नहीं जान पड़ता।

रामके बनवासकी बात सुन सीताजी व्याकुल हो उठीं। उनकी इच्छा यह हुई कि राम हमको भी अपने साथ ले चलें; परन्तु इस बातका विश्वास नहीं हुआ कि राम उन्हें ले ही चलेगी। अतएव वे सोचती हैं—

‘कौ तनु प्राण कि केवल प्राणा ।

विधि करतब कछु जाइ न जाना ।’

यह तो सीताजी निश्चय जानती है कि यदि राम उन्हें साथ न भी ले जायेंगे, तो भी उनके प्राण अवश्य ही रामके साथ जायेंगे। सीताजीको पहले कौशल्याजी घर रहनेके लिए समझाती हैं, परन्तु यह समझकर कि शायद रामके समझानेका उनपर ज्यादा असर पड़े, वह रामसे कहती हैं—

‘जौ सिय भवन रहै कह अंबा ।

मोहिं कहं होहि बहुत अवलंबा ।’

राम सीताको अपनी माताके सामने समझानेमें सकुचते हैं, परन्तु फिर अवसरका विचार करके सीताको शिक्षा देते हैं। वे बनके तरह-तरहके कष्ट बताकर और सीताकी सुकुमारतासे

उनकी तुलना करके, उन्हें हतोत्साह करना चाहते हैं। सीता यह सब सुनकर भी अपने निश्चयपर दृढ़ रहती है और रामकी इन बातोंका उत्तर बड़ी सुन्दरतासे देती हैं। वे व्यंगमय वचनोंमें रामसे कहती हैं—

‘मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू ।
तुमहिं उचित तप, मोकहं भोगू ।’

राम अब सीताको दूसरी ही प्रकारसे समझाते हैं। वह सीतासे कहते हैं कि तुम घरपर माता-पिताकी सेवा करनेके लिए रहो, माता-पिताकी सेवा करना तुम्हारा धर्म है। जब वे हमारे बिछोहसे दुखी हों, तब तुम उन्हें अपनी ‘मृदुवानी’से समझाना। सीताजीकी यह सब शिक्षा अनुचित जान पड़ती है। पतिव्रतके सामने ‘सादर सास-ससुर-पद-पूजा’ उन्हें फीकी जंचती है। अतएव वे कहती हैं—

‘मैं पुनि समुक्ति दीख मन माहीं ।
पिय वियोग सम दुख जग नाहीं ॥’

* * * *

‘तनु धनु धामु धरनि सुरराजू ।
पतिविहीन सब सोक समाजू ॥’

अन्तमें उनका वन जाना तय हो जाता है और वह भी कौशल्यासे विदा मांगती हैं।

हमें सीताजीका यह निश्चय बिलकुल उचित जान पड़ता है। स्त्रीका कर्तव्य यही है कि वह पतिका विपत्तिमें भी साथ न छोड़े, फिर भला सीता जैसी आदर्श स्त्रीका तो यह कर्तव्य होना ही चाहिए।

रामचन्द्रजीके अनन्य भक्त लक्ष्मणने जब राम-वनगमनका समाचार सुना, तो वे घबडा गये। उनके मनमें यह शंका आने लगी—

‘मोकहं काह कहब रघुनाथा ।

रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा ।’

राम उनको भी घर रहनेकी शिक्षा देते हैं और कहते हैं कि माता-पिताको सांत्वना देते रहना। लक्ष्मण अपने आराध्य-देव रामके वचनोंका उत्तर नहीं दे सकते। उनकी समझमें रामकी बातको काटना अनुचित होगा, परन्तु घरपर न रहनेकी बेबसीको वे अपनी आकृति द्वारा प्रकट कर देते हैं, वे एकवारगी कह उठते हैं—

‘नाथ दासु मैं स्वामि तुझ तजहु त कहा बसाइ ।’

* * * *

‘मोरे सबइ एक तुम स्वामी ।

दौनबंधु उरअन्तरजामी ।’

रामको लक्ष्मणकी ऐसी दृढ़ प्रीति देखकर उन्हें बन ले चलनेकी स्वीकृति देनी ही पड़ती है।

लक्ष्मणका यह कर्तव्य साधारण दृष्टिसे बहुत उचित नहीं जान पड़ता। अवश्य ही किसी मनुष्यका कर्तव्य अपने भाईके प्रति उतना नहीं होना चाहिए, जितना अपने माता-पिताके प्रति; फिर ऐसे विशेष अवसरपर, जब कि भरत व शत्रुघ्न भी घरपर नहीं हैं और मातापितापर विपत्ति पड़ी है, लक्ष्मणको अपने पिताकी ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था। यह तो बात ही और है कि

लक्ष्मण राम ही को सर्वस्व समझते हैं—‘मोरे सबद्र एक तुम स्वामी’ ।

लक्ष्मणके सुमित्राके पास बन जानेकी आज्ञा लेने जाते ही सुमित्रापर भी धर्म-संकट आ जाता है । वे मोहमें फंसकर लक्ष्मणको बन जानेसे रोकें या उन्हें बन भेजें । इस सम्बन्धमें सुमित्राका निर्णय सर्वथा स्तुत्य है । यद्यपि लक्ष्मण अपनी मातासे आज्ञा मार्गमें सकुचते हैं—

‘मांगत बिदा सभय सकुचाहीं ।

जाइ संग, बिधि, कहहि कि नाहीं ।’

परन्तु सुमित्रा अपने मोहको दबाकर लक्ष्मणको बन जानेकी आज्ञा देनेमें तनिक भी नहीं सकुचतीं, वरन् उन्हें राम-जानकीकी सेवा करनेका उपदेश देती हैं । वे अपने धर्म-संकटको तुरन्त ही दूर करके अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती हैं । उनकी निम्नलिखित सीख बड़ी ही जोरदार है—

‘तात तुम्हारि मातु वैदेही ।

पिता राम सब भांति सनेही ।’

* * * *

‘जौ पै सौय-रामु बन जाहीं ।

अवध तुम्हार काज ककु नाहीं ।’

* * * *

‘जेहि न राम बन लहहिं कलेसू ।

सुत सोइ करेहु इहै उपदेसू ।’

सुमित्रामें मोहको अपने हृदयसे दूर हटा देनेकी शक्ति है । उनका लक्ष्मणको उपदेश आदर्श भ्रातृभक्तिका उपदेश है ।

यदि सच पूछा जाय, तो अयोध्याकांड भरमें धर्म-संकट केवल भरत ही पर पड़ता है। वे दो विरोधी कर्तव्योंके बीचमें बुरी तरह पिस रहे हैं। एक ओर मातापिताकी उनके लिए यह आज्ञा है कि वह राज्य स्वीकार करें। कुर्सीगुरु इत्यादि भी उनको राज्य स्वीकार करनेके लिए ही जोर दे रहे हैं। दूसरी ओर उनका अन्तःकरण उनसे बार-बार कह रहा है कि यह आज्ञा अनुचित है। रामके साथ बड़ा ही अन्याय किया गया है, राज्य पानेके अधिकारी वे ही हैं ; अतएव तुम यह पद स्वीकार न करो।

भरत अपने ननिहालसे लौटकर अयोध्या चले आ रहे हैं। भांति-भांतिके अपशकुनोंसे उन्हें भावी अनिष्टकी सूचना मिल रही है। कौकयीसे मिलते ही वे अपने पिता तथा राम आदिकी कुशल पूछते हैं। कौकयी अपने मनमें समझती हैं कि भरत उनके वरदानोंकी बात सुनकर बहुत प्रसन्न होंगे। वे कहती हैं—

‘तात बात मैं सकल संवारी।

भद्र मंथरा सहाय बिचारी।’

परन्तु भरत ज्यों ही दशरथकी मृत्यु तथा राम, सीता और लक्ष्मणके वनवासकी सूचना पाते हैं, त्योंही वे बड़े ही दुखी होते हैं। सबसे अधिक दुःख उन्हें इस बातका है कि उनके ही कारण इतना उपद्रव हुआ है। उनकी ही भलाईके लिए उनकी माताने इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। अतएव वे कह उठते हैं—

‘बर मांगत मन भद्र नहिं पीरा।

गरि न जीह मुंह परेउ न कीरा।’

‘कइकइ कत जनमी जग मांभा ।

जो जनमति भइ काहे न बांभा ।

कुलकलंक जेहि जनमेउ मोहीं ।

अपजसभाजन प्रियजन द्रोही ।’

भरतजी तुरन्त कौशल्याके पास जाते हैं । उन्हें अब यह बात आवश्यक जान पड़ती है कि वे कौशल्या आदिकी यह विश्वास दिला दें कि वे स्वयं इस षडयन्त्रसे बिलकुल अलग थे । वे सैकड़ों शपथ खाते हैं कि मेरी सम्प्रतिसे ये वरदान कदापि नहीं मांगे गये हैं ।

‘जे अघ मातु-पिता सुत मारे ।

गाइ-गोठ महिसुरपुर जारे ।

जे पातक उपपातक अहहीं ।

करम-वचन-मन-भव कवि कहहीं ।

ते पातक मोहि होहु विधाता ।

जौं एहु होइ मोर मत माता ।’

‘जे परिहरि हरिहर चरन, भजहिं भूत घनघोर ।

तेहि कै गति मोहिं देहु विधि, जौ जननी मत मोर ॥’

परन्तु वहां तो इन शपथोंकी आवश्यकता ही नहीं थी । कौशल्याका मन उनकी ओरसे बिलकुल साफ था । तो भी भरतको यह निश्चय करानेके लिए कि उन्हें उनकी नेकनीयतीका पूर्ण विश्वास है, कौशल्याको यह कहना पड़ता है—

‘मत तुम्हार एह जो जग कहहीं ।

सो सपनेहु’ सुख सुगति न लहहीं ।’

राजा दशरथके शवका दाह-संस्कार आदि करनेके बाद

वशिष्ठजी भरतको ज्ञानोपदेश करते हैं और उनसे पिताकी आज्ञा माननेका अनुरोध करते हैं ।

‘अनुचित उचित विचार तजि,

जे पालहिं पितु बयन ।

ते भाजन सुख सुजस के,

बसहिं अमरपति अयन ॥’

ये उपदेश भरतके ध्यानमें बिलकुल नहीं आते । वे अपनी बातपर दृढ़ रहते हैं और यह विचार करते हैं कि वे रामको बनसे लौटाकर सिंहासनपर बैठाएं और स्वयं उनके बदले बनवास करें । अतएव वे माताओं, कुलगुरु वशिष्ठ तथा समस्त फौजको लेकर राम-जानकीसे मिलने चल दिये । चित्रकूट पहुँचकर भरत रामसे मले और उन्हें हर तरहसे घर लौट चलनेके लिये विवश किया ; परन्तु रामने बनसे न लौटनेकी दृढ़ता दिखायी, और भरतको भी पिताकी आज्ञा पालन करनेका उपदेश दिया । यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस अवसरपर वशिष्ठजी भी भरतकी ओरसे पैरवी कर रहे हैं और रामसे राज्य स्वीकार करनेको कहते हैं । भरतने अपने नम्र निवेदनको इस भांति प्रकट किया है—

‘सानुज पठइय मोहिं बन, कीजिय सबहिं सनाथ ।

नतरु फेरि यहि बंधु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ ॥’

इससे यह प्रकट होता है कि भरत रामको अयोध्या लौटा ले चलनेपर उतना जोर नहीं देते, जितना कि अपना रामके साथ रहने और उनकी सेवा करनेपर । राम भरतको अयोध्याका

प्रबन्ध करनेके लिये लौटना ही चाहते हैं और उन्हें अत्यन्त गम्भीर उपदेश देते हैं, जिसे सुनकर भरतको विवश होकर कहना पड़ता है—

‘अब कृपाल जस आयसु होई ।
 करौं सीस धरि सादर सोई ।
 सो अवलंब देउ मोहिं देई ।
 अवधि पार पावौं जेहि सेई ।’

यहांपर रामने भरतको राज्य-शासन सम्बन्धी उपदेश दिया है। यह उपदेश तो भरतको बहुत उचित जंचा, परन्तु बिना किसी आधारके उनका मन शांत न हुआ।

‘बन्धु प्रबोध कीन्ह बहु भांती ।
 बिनु अधार मम तोषु न सांती ।

अतएव रामने उनको अपनी खड़ाऊं दे दीं और भरत उन्हें सादर लेकर चल दिये।

‘प्रभु करि कृपा पांवरी दीन्हों ।
 सादर भरत सीस धरि लीन्हों ।

उन्हीं खड़ाऊंको सिंहासनपर रखकर और स्वयं तपस्वी और सेवकके समान रहकर राज-काज करने लगे। अब उनका यह नित्य-कर्म हो गया—

‘नित पूजन प्रभु पांवरी, प्रीति न हृदय समाति ।
 मांगि मांगि आयसु करत, राज-काज बहु भांति ॥’

जितना ही विकट धर्म-संकट भरतके सामने उपस्थित हुआ है उतना ही अच्छा उन्होंने उसका निर्वाह भी किया है। उन्होंने

एकबारगी राज्यसिंहासन स्वीकार न करके अपनी उदारता दिखायी है, अपने मनको भी समझा लिया है, और अन्तमें राज-काज भी अव्यवस्थित नहीं होने दिया है। राजाके कर्तव्य करते हुए भी उन्होंने राज्यके आनन्दका भोग नहीं किया है। उन्होंने अपने पिताकी आज्ञाका उल्लंघन भी किया और उसका पालन भी किया है। राज्य-भार तो अंतमें ग्रहण ही किया, परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी दिखा दिया कि वास्तवमें राज्यपर उनका कोई अधिकार नहीं है। वह तो राम ही को मिलना चाहिये था। राज-काज तो आप स्वयं संभालते हैं, परन्तु राज्यसिंहासनपर रामकी पादुका बैठी हैं। यदि भरतजी सीधे ननिहालसे आते ही राज्य ग्रहण कर लेते, तो वह केवल आज्ञाकारी पुत्र ही कहलाते; परन्तु ऐसा न करनेसे उनका चरित्र बहुत उज्ज्वल हो गया है। यहां यह न समझ लेना चाहिये कि भरत वास्तवमें राज्य करना चाहते थे; परन्तु अपने चरित्रको उज्ज्वल करने ही के लिये उन्होंने इतना दिखावा किया है। ऐसा समझना भरतजीको एक कमीना राज-नीतिज्ञ मानना होगा और साधु भरतके प्रति अन्याय कभी क्षम्य नहीं हो सकता।

अन्तमें हम देखते हैं कि इस कांडभरमें वास्तवमें केवल तीन धर्म-संकट आते हैं। पहला राजा दशरथपर, दूसरा कौशल्यापर, और तीसरा भरतपर। सबसे बड़ा धर्म-संकट भरतके सम्मुख है और उसका निर्वाह भी उसीके अनुरूप हुआ है। हम दशरथके धर्म-संकट-निर्वाहसे सन्तुष्ट नहीं हैं। उनका अपनी कुटिल छीसे प्रतिज्ञाबद्ध होकर उसीके वचनको सब परिस्थितियोंमें प्रतिपालन करना ठीक नहीं जंचता। उन्हें ऐसे अनुचित निर्णयका फल भी

उनकी मृत्युके रूपमें तुरन्त ही मिल गया। कौशल्याने अपने धर्म-संकटका हमारे विचारमें उचित निर्वाह किया है।

यहांपर यह दिखा देना अनुचित न होगा कि हमारे कवियोंकी रचनाओंमें धार्मिक भावोंके आ जानेके कारण, कलाकी दृष्टिसे, उनमें कैसी असम्बद्धता आ जाती है। इतना सब उपर्युक्त विचार करनेके बाद भी ज्योंही हम इस बातको याद दिलानेवाली कोई पंक्ति पढ़ते हैं कि राम, दशरथ आदि पात्र जो कुछ कहते या करते हैं वह अपनी प्रेरणासे नहीं, वरन् एक और ही कार्यके निमित्त; तो इन पात्रोंके कार्योंकी वास्तविकता जाती रहती है। कौशल्या व दशरथका रामके लिये विलाप, सीताका वन जानेके लिये अनुरोध आदि बातें बनावटी और अवास्तविक लगने लगती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि राम, दशरथ, सीता आदि पात्र किसी नाटकका अभिनय कर रहे हैं।

पद्यांश

चेतावनी

[कबीर साहब (संवत् १४५५-१५७५ वि०)—ये प्रसिद्ध महात्मा और सुधारक थे । हिन्दी कवियोंमें इनका स्थान बहुत ऊँचा है । इनकी वाणीका सगढ़ बीजक नामसे और इनका चलाया हुआ मत कबीर-पंथके नामसे प्रसिद्ध है । इनके भजन मदिरोमें गाये जाते हैं । इनकी साखिया कहावतोंका काम करती हैं । कबीर-पद्योंमें हिन्दू मुसलमान दोनों प्रकारके शिष्य पाये जाते हैं ।]

कविरा गर्व न कीजिये काल गहे कर केस ।
ना जानौं कित मारिहै क्या घर क्या परदेस ॥१॥
भूँटे सुखको सुख कहै मानत है मन मोद ।
जगत चवेना कालका कुछ सुखमें कुछ गोद ॥२॥
कुसल कुसल ही पृच्छते जगमें रहा न कोय ।
जरा सुई ना भय सुआ कुसल कहाँसे होय ॥३॥
पानी केरा बुदबुदा अस मानुषकी जात ।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात ॥४॥
रात गंवाई सोयकर दिवस गंवाया खाय ।
हीरा जनम असोल था कौड़ी बदले जाय ॥५॥
आखे दिन पाखे गये गुरुसे किया न हेत ।
अब पछतावा क्या करै चिड़ियां चुग गईं खेत ॥६॥

काल्ह करै सो आज कर आज करै सो अब्ब ।
 पलमें परलै होयगी बहुरि करैगा कब्ब ॥७॥
 पाव पलककी सुधि नहीं करै काल्हका साज ।
 काल अचानक मारसी ज्यों तीतरको बाज ॥८॥
 कबिरा नीबत आपनी दिन दस लेहु बजाय ।
 यह पुर पटन यह गली बहुरि न देखी आय ॥९॥
 पांचों नीबत बाजती होत छतीसों राग ।
 सो मंदिर खाली पड़ा बैठन लागे काग ॥१०॥
 ऊजड़ खेड़े ठीकरी गढ़ि गढ़ि गये कुम्हार ।
 रावन सरिखा चलि गया लंकाका सरदार ॥११॥
 कबिरा गर्व न कीजिये अस जोवनकी आस ।
 टेसू फूला दिवस दस खंखर भया पलास ॥१२॥
 कबिरा गर्व न कीजिये ऊंचा देख अवास ।
 काल्ह परों भुइ' लेटना ऊपर जमसी घास ॥१३॥
 ऐसा यह संसार है जैसा सेमर फूल ।
 दिन दसके व्योहारमें भूँठे रंग न भूल ॥१४॥
 माटी कहै कुम्हारको तूँ क्या रूंदै मोहिं ।
 इक दिन ऐसा होयगा मैं रूंदूंगी तोहिं ॥१५॥
 कबिरा यह तन जात है सकै तो ठौर लगाव ।
 कै सेवा कर साधकी कै गुरुके गुन गाव ॥१६॥
 मोर तोरकी जेवरी बटि बांधा संसार ।
 दास कबीरा क्यों बंधे जाके नाम अधार ॥१७॥
 दुर्लभ मानुष जनम है देह न बारंबार ।
 तरवर ज्यों पत्ता भड़ै बहुरि न लागै डार ॥१८॥

HINDI SELECTIONS

आये हैं सो जायंगे राजा रंक फकीर ।
एक सिंघासन चढ़ि चले इक बंधि जात जंजीर ॥१६॥
जो जानहु जिव आपना करहु जीवको सार ।
जियरा ऐसा पाहुना मिलै न दूजी बार ॥२०॥
कबिरा यह तन जात है सकै तो राख बहोर ।
खाली हाथों वे गये जिनके लाख करोर ॥२१॥
आस पास जोधा खडे सबी बजावैं गाल ।
मांभ महलसे ले चला ऐसा काल कराल ॥२२॥
तन सराय मन पाहरू मनसा उतरी आय ।
कोउ काहुका है नहीं देखा ठोंक बजाय ॥२३॥
मैं मैं बड़ी बलाय है सको तो निकसो भाग ।
कह कबीर कब लग रहै रुई लपेट्टी आग ॥२४॥
वासर सुख ना रैन सुख ना सुख सपने माहिं ।
जो नर बिछुड़े नामसे तिनको धप न छाहिं ॥२५॥
अपने पहरे जागिये ना पड़ि रहिये सोय ।
ना जानौं छिन एकमें किसका पहरा होय ॥२६॥
दीन गंवायो संग दुनी दुनी न चाली साथ ।
पांव कुल्हाड़ी मारिया मूरख अपने हाथ ॥२७॥
मैं भंवरा तोहिं बरजिया बन बन वास न लेय ।
अटकैगा कहूँ बेलसे तड़पि तड़पि जिय देय ॥२८॥
बाड़ीके बिच भंवर था कलियां लेता वास ।
सो तो भंवरा उड़ि गया तजि बाड़ीकी आस ॥२९॥
भय बिनु भाव न ऊपजै भय बिनु होय न प्रीति ।
जब हिरदेसे भय गया मिटी सकल रस रीति ॥३०॥

भयसे भक्ति करै सबै भयसे पूजा होय ।
 भय पारस है जीव को निर्भय होय न कोय ॥३१॥
 ऐसी गति संसारकी ज्यों गाड़रकी ठाट ।
 एक पड़ा जेहि गाड़में सबै जायं तेहि बाट ॥३२॥
 इक दिन ऐसा होयगा कोउ काह्नुका नाहिं ।
 घरकी नारीको कहै तनकी नारी जाहिं ॥३३॥
 भंवर बिलंबे बागमें बहु फूलनकी आस ।
 जीव बिलंबे विषयमें अंतह्र चले निरास ॥३४॥
 चलती चक्री देखिके दिया कबीरा रोय ।
 दुइ पट भीतर आइके साबित गया न कोय ॥३५॥
 सेमर सुवना सेइया दुइ ढेंढीकी आस ।
 ढेंढी फूटि चटाक दे सुवना चला निरास ॥३६॥
 धरती करते एक पग समुंदर करते फाल ।
 हाथन परबत तौलते तिनहुं खाया काल ॥३७॥
 आज काल्ह दिन एकमें इस्थिर नाहिं सरीर ।
 कह कबीर कस राखिहौ कांचे बासन नीर ॥३८॥
 माली आवत देखि कै कलियां करै पुकार ।
 फली फली चुनि लिये काल्हि हमारी बार ॥३९॥
 कांची काया मन अथिर थिर थिर काज करंत ।
 ज्यों ज्यों नर निधड़क फिरत त्यों त्यों काल हसंत ॥४०॥
 हम जानै ये खायंगे बहुत जमीं बहु माल ।
 ज्योंका त्यों ही रह गया पकरि लै गया काल ॥४१॥
 दक्की दाही लाकड़ी ढाढ़ी करै पुकार ।
 अब जो जाउं लोहार घर डाहै दूजी बार ॥४२॥

जरनेहारा भी सुआ सुआ जरावन-हार ।
 है है करते भी सुए कासों करों पुकार ॥४३॥
 भाई बीर बटाउआ भरि भरि नैनन रोय ।
 जाका था सो ले लिया दीन्हा था दिन दीय ॥४४॥
 तेरा 'गौ कोइ नहीं' सबै खारथी लोय ।
 मन परतीति न ऊपजै जिव विस्वास न होय ॥४५॥
 कबिरा रसरी पांवमें कह सोवै सुख चैन ।
 खांस नगाडा कूंचका बाजत है दिन रैन ॥४६॥
 पात भरंता यों कहै सुनु तरवर बनराय ।
 अबके बिकुरे ना मिलैं दूर परैंगे जाय ॥४७॥
 कबिरा जंत्र न बाजई टूटि गया सब तार ।
 जंत्र विचारा क्या करै चला बजावन-हार ॥४८॥
 साथी हमरे चलि गये हम भी चालनहार ।
 कागदमें बाकी रह्यो तातें लागी बार ॥४९॥
 दस द्वारेका पींजरा तामें पंछी पीन ।
 रहिवैको आचरज है जाय तो अचरज कौन ॥५०॥
 सुर नर मुनि औ देवता सात द्वीप नव खंड ।
 कह कबीर सब भोगिया देह धरेका दंड ॥५१॥

उपदेश

जो तोको कांटा बुवै ताहि बोंव तू फूल ।
 तोहि फूलको फूल है वाको है तिरसूल ॥१॥
 दुर्बलको न सताइये जाकी मोटी हाय ।
 बिना जीवकी खांससे लोह भसम है जाय ॥२॥
 कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय ।
 आप ठगा सुख होत है और ठगे दुख होय ॥३॥
 या दुनियामें आइके छांड़ि देइ तू ऐंठ ।
 लेना होइ सो लेइ ले उठी जात है पैठ ॥४॥
 ऐसी बानी बोलिये मनका आपा खोय ।
 औरनको सीतल करै आपहु' सीतल होय ॥५॥
 जगमें बैरी कोइ नहीं जो मन सीतल होय ।
 या आपाको डारि दे दया करै सब कोय ॥६॥
 हस्ती चढ़िये ज्ञानको सहज दुलीचा डारि ।
 खान रूप संसार है भूसन दे भख मारि ॥७॥
 बाजन देख जंतरी कलि कुकही मत छेड़ ।
 तुम्हे पराई क्या पड़ी अपनी आप निवेड़ ॥८॥
 आवत गारी एक है उलटत होय अनेक ।
 कह कबीर नहिं उलटिये वही एककी एक ॥९॥
 गारी ही सों ऊपजै कलह कष्ट औ मीच ।
 हारि चलै सो साधु है लागि मरै सो नीच ॥१०॥
 जैसा अनजल खाइये तैसा ही मन होय ।
 जैसा पानी पीजिये तैसी बानी सोय ॥११॥

मांगन मरन समान है मति कोइ मांगो भीख ।
 मांगन ते मरना भला यह सतगुरुकी सीख ॥१२॥
 उदर समाता अन्न लै तनहिं समाता चीर ।
 अधिकहिं संग्रह ना करै ताका नाम फकीर ॥१३॥
 कहतेको कहि जान दे गुरुकी सीख तु लेइ ।
 साकट जन औ खानको फिर जवाब मत देइ ॥१४॥
 जो कोइ समझै सैनमें तासों कहिये बैन ।
 सैन बैन समझै नहीं तासों कछू कहै न ॥१५॥
 बहतेको मत बहन दे कर गहि एंचहु ठौर ।
 कहा सुना मानै नहीं बचन कहो दुइ और ॥१६॥
 सकल दुरमती दूर करि आछो जन्म बनाव ।
 काग गमन गति छांडि दे हंस गमन गति आव ॥१७॥
 मधुर बचन हैं औषधी कटुक बचन हैं तीर ।
 स्रवन द्वार है संचरै सालैं सकल सरीर ॥१८॥
 बोलत ही पहिचानिये साहु चोरको घाट ।
 अंतरकी करनी सबै निकसै मुखकी बाट ॥१९॥
 पढ़ि पढ़िके पत्थर भये लिखि लिखि भये जो ईंट ।
 कविरा अंतर प्रेमकी लागी नेक न छींट ॥२०॥
 नाम भजो मन बसि करो यही बात है तंत ।
 काहे को पढ़ि पचि मरो काटिन ज्ञान गरंथ ॥२१॥
 करता था तो क्यों रहा अब करि क्यों पछिताय ।
 वोवे पेड बबूलका आम कहां तें खाय ॥२२॥
 कविरा दुनिया देहरे सीस नवावन जाय ।
 हिरदे माहीं हरि बसै तू ताही लौ लाय ॥२३॥

मन मथुरा दिल द्वारिका काया कासी जान ।
 दस द्वारिका देहरा तामें जीति पिछान ॥२४॥
 पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियनका सा खेल ।
 जब लग पिउ परसै नहीं तब लग संसय मेल ॥२५॥
 तीरथ चाले दुइ जना चित चंचल मन चोर ।
 एको पाप न उतरिया मन दस लाये और ॥२६॥
 न्हाये धोये क्या भया जो मन मैल न जाय ।
 मीन सदा जलमें रहै धोये वास न जाय ॥२७॥
 पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय ।
 एकै अच्छर प्रेमका पढ़े सो पंडित होय ॥२८॥
 पढ़े गुने सीखे सुने मिटी न संसय सूल ।
 कह कबीर कासों कह' येही दुखका मूल ॥२९॥
 पंडित और मसालची दोनों सूझै नाहिं ।
 औरनको करें चांदना आप अंधरे माहिं ॥३०॥
 ऊंचे गांव पहाड़पर औ मोटेकी बांह ।
 ऐसो ठाकुर सेइये उवरिय जाकी छांह ॥३१॥
 हे कबीर तैं उतरि रहु सबल परोह न साथ ।
 सबल घटे औ पग थके जीव बिराने हाथ ॥३२॥
 अपा तजो औ हरि भजो नख सिख तजो विकार ।
 सब जिउ ते निरबैर रहु साधु मता है सार ॥३३॥
 बहु बंधन ते बांधिया एक बिचारा जीव ।
 का बल कूटै आपने जो न कुड़ावै पीव ॥३४॥
 समुभाये समुझे नहीं परहथ आप बिकाय ।
 मैं खैंचत हौं आपको चला सो यमपुर जाय ॥३५॥

वोइ तो वैसहि भया तू मति होइ अयान ।
 तू गुणवंत वे निरगुणी मति एकै में सान ॥३६॥
 पूरा साहब, सेइये सब विधि पूरा होइ ।
 ओछे नेह लगाइये मूलो आवै खोइ ॥३७॥
 पहिले बुरा कमाइ कै बांधी विष कै मोट ।
 कोटि कर्म मिट पलकमें आवै हरिकी ओट ॥३८॥

काम

सह कामी दीपक दसा सोखै तेल निवास ।
 कविरा हीरा संत जन सहजै सदा प्रकास ॥१॥
 कामी क्रोधी लालची इनसे भक्ति न होय ।
 भक्ति करै कोइ सूरमा जाति बरन कुल खोय ॥२॥
 भक्ति विगारी कामियां इंद्री केरे खाद ।
 हीरा खोया हाथसे जनम गंवाया बाद ॥३॥
 जहां काम तहं नाम नहिं जहां नाम नहिं काम ।
 दोनों कबहूँ ना मिलैं रवि रजनी दूक ठाम ॥४॥
 काम क्रोध मद लोभकी जब लग घटमें खान ।
 कहा सुख कहा पंडिता दोनों एक समान ॥५॥
 काम काम सब कोइ कहै काम न चीन्है कोय ।
 जेती मनकी कल्पना काम कहावैं सोय ॥६॥

क्रोध

कोटि करम लागे रहैं एक क्रोधकी लार ।
 किया कराया सब गया जब आया हंकार ॥१॥
 दसो दिसासे क्रोधकी उठी अपरबल आगि ।
 सौतल संगति साधुकी तहां उबरिये भागि ॥२॥
 कुबुधि कमानौ चढ़ि रही कुटिल बचनका तीर ।
 भरि भरि मारै कानमे सालै सकल सरौर ॥३॥
 कुटिल बचन सबसे बुरा जारि करै तन छार ।
 साध बचन जल रूप है बरसैं अमृतधार ॥४॥
 करक करेजे गड़ि रही बचन बद्धकी फांस ।
 निकसाये निकसै नहीं रही सो काहू गांस ॥५॥

लोभ

जब मन लागै लोभ सों गया विषयमें सोय ।
 कहैं कबीर बिचारि कै कस भक्तौ धन होय ॥१॥
 कबिरा तिस्रा पापिनी तासों प्रीति न जोरि ।
 पैड पैड पाछे परै लागै मोटी खोरि ॥२॥
 कबिरा औंधी खोपरी कबहूँ धापै नाहिं ।
 तीन लोककी संपदा कब आवै घर माहिं ॥३॥
 आव गई आदर गया नैनन गया सनेह ।
 ये तीनों तबही गये जबहिं कहा कछु देह ॥४॥
 बहुत जतन करि कीजिये सब फल जाय नसाय ।
 कबिरा संचय सूझ धन अंत चोर लै जाय ॥५॥

मोह

मोह फंद सब फांदिया कोइ न मकौ निरबार ।
 कोइ साधू जन पारखी बिरला तत्त्व बिचार ॥१॥
 मोह मगन संसार है कन्या रही कुमारि ।
 काहु सुरति जो ना करी फिरि फिरि ले अवतारि ॥२॥
 जहं लग सब संसार है मिरग सबनको मोह ।
 सुर नर नाग पताल अरु ऋषि मुनिवर सब जोह ॥३॥
 सलिल मोहकी धारमें बहि गये गहिर गंभीर ।
 सुच्छम मछरी सुरति है चढ़िती उलटे नीर ॥४॥
 अमृत केरी मोटरौ सिरसे धरी उतारि ।
 जाहि कहौं मै एक हौं मोहिं कहै है चारि ॥५॥
 जाको मुनिवर तप करैं वेद पढ़ैं गुन गाय ।
 सोई देव सिखापना नहिं कोई पतियाय ॥६॥
 भर्म परा तिहुं लोकमें भर्म बसा सब ठाउं ।
 कहहि कबीर पुकारिके बसैं भर्मके गाउं ॥७॥
 युवा जरा बालापन बीत्यो चौथि अवस्था आई ।
 जस मुसवाको तकै बिलैया तस यम घात लगाई ॥८॥
 दर्पण केरी जो गुफा सोनहा पैठो धाय ।
 देखत प्रतिमा आपनी भूँकि भूँकि मरि जाय ॥९॥
 मनुष बिचारा क्या करै कहै न खुलैं कपाट ।
 खान चौक बैठाय कै पुनि पुनि ऐपन चाट ॥१०॥

अहङ्कार

मान बड़ाई कूकरी संतन खेदी जानि ।
 पांडव जग पूरन भया सुपच बिराजे आनि ॥१॥
 मान बड़ाई जगतमें कूकरकी पहिचान ।
 मीत किये मुख चाटही बैर किये तन हानि ॥२॥
 बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर ।
 पंथीको छाया नहीं फल लागै अति दूर ॥३॥
 कबिरा अपने जीव तें ये दो बातें धोय ।
 मान बड़ाई कारने आछत मूल न खोय ॥४॥
 प्रभुताको सब कोउ भजै प्रभुको भजै न कोय ।
 कह कबीर प्रभुको भजै प्रभुता चेरौ होय ॥५॥
 जहं आपा तहं आपदा जहं संसय तहं सोग ।
 कह कबीर कैसे मिटै चारों दीरघ रोग ॥६॥
 माया त्यागी क्या भया मान तजा नहिं जाय ।
 जेहि मानै मुनिवर ठगे मान सबनको खाय ॥७॥

सूरदासके पद

[सूरदास (संवत् १५४०-१६२० वि०)—भक्त कवियोंमें इनका स्थान अति उच्च है। इनके भजन घर घरमें बड़े प्रेमसे गाये जाते हैं। श्रीकृष्ण भगवान्‌की लीलाका वर्णनकर इन्होंने अपनी अनुपम कवित्वशक्तिका परिचय दिया है। शृंगार तथा वात्सल्य रसके वर्णनमें इन्होंने जो कमाल किया है वह विश्वसाहित्यमें अकेला है।]

(१)

राग विलावल

चरण-कमल बंदों हरि-राइ ।

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौ सब कछु दरसाइ ।
 बहिरौ सुनै, गूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ ।
 सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदों तिहिं पाइ ।

(२)

राग कान्हरी

अविगत-गति कछु कहत न आवै ।

ज्यौ गूंगै मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै ।
 परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै ।
 मन-बानी कौ अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै ।-
 रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै ।
 सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै ॥

(३)

राग धनाश्री

हरि सों मीत न देख्यौ कोई ।

बिपति-काल सुमिरत, तिहिं औसर आनि तिरीछी होई ।
 ग्राहे गहे गजपति सुकरायौ, हाथ चक्र लै धायौ ।
 तजि बैकुंठ, गरुड़ तजि, श्री तजि, निकट दास कै आयौ ।
 दुर्बासा कौ साप निवार्यौ, अंबरीष-पति राखी ।
 ब्रह्मलोक-परजंत फिर्यौ तहं देव-सुनी-जन साखी ।
 लाखागृह तैं जरत पांडु-सुत बुधि-बल नाथ, उबारै ।
 सूरदास-प्रभु अपने जनके नाना त्रास निवारै ॥

(४)

राग सारंग

भक्तानि हित तुम कहा न कियौ ?

गर्भ परीच्छित-रच्छा कीन्ही, अंबरीष-व्रत राखि लियौ ।
 जन प्रह्लाद-प्रतिज्ञा पुरई, सखा विप्र-दारिद्र्य हयौ ।
 अंबर हरत द्रौपदी राखी, ब्रह्म-इंद्र कौ मान नयौ ।
 पांडव कौ दूतत्व कियौ पुनि, उग्रसेन कौ राज दयौ ।
 राखी पैज भक्त भीषम की, पारथ कौ सारथी भयौ ।
 दुखित जानि दोउ सुत कुबेर के, नारद-साप निवृत्त कियौ ।
 करि बल-विगत उबारि दुष्ट तैं, ग्राह्य ग्रसत बैकुंठ दियौ ।
 गौतमकी पतिनी तुम तारी, देव, दवानल कौ अंचयौ ।
 सूरदास-प्रभु भक्त-बकुल हरि, बलि-द्वारै दरबान भयौ ॥

(५)

राग सारंग

जापर दीनानाथ ठरै ।

सोइ कुलीन, बड़ौ सुंदर सोइ, जिहिं पर कृपा करै ।
 कौन विभीषन रंक-निसाचर, हरि हंसि छत्र धरै ।
 राजा कौन बड़ौ रावन तैं, गर्वहिं-गर्व गरै ।
 रंकव कौन सुदामाहूँ तैं, आप समान करै ।
 अधम कौन है अजामील तैं, जम तहं जात डरै ।
 कौन विरक्त अधिक नारद तैं, निसि दिन भ्रमत फिरै ।
 जोगी कौन बड़ौ संकर तैं, ताकौं काम छरै ।
 अधिक कुरूप कौन कुबिजा तैं, हरि पति पाइ तरै ।
 अधिक सुरूप कौन सीता तैं, जनम वियोग भरै ।

यह गति-मति जानै नहिं कोऊ, किहिं रस रसिक ठरै ।
सूरदास भगवंत-भजन विनु फिरि फिरि जठर जरै ॥

(६)

राग सारंग

रे मन, गोविंद के ह्वै रहियै ।
इहिं संसार अपार विरत है, जम की त्रास न सहियै ।
दुख, सुख, कीरति, भाग आपनै आइ परै सो गहियै ।
सूरदास भगवंत-भजन करि अंत बार कछु लहियै ॥

(७)

राग धनाश्री

नर तैं जनम पाइ कह कीनी ?
उदर भर्यौ कूकर-सूकर लौं, प्रभु की नाम न लीनी ।
श्री भागवत सुनी नहिं सवननि, गुरु गोविंद नहिं चीनी ।
भाव-भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन बिषया में दीनी ।
भूठौ सुख अपनी करि जान्यौ, परस प्रिया कै भीनी ।
अघ की मेरु बढ़ाइ अधम तू, अंत भयो बलहीनी ।
लख चौरासी जोनि भरमि कै फिरि वाहीं मन दीनी ।
सूरदास भगवंत-भजन विनु ज्यों अंजलि-जल छीनी ॥

(८)

राग भिंभीटी

जा दिन मन पंखी उड़ि जै है ।
ता दिन तेरे तन-तक्कर के सबै पात भरि जै है ।

या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहैं ।
 तीननि मैं तन छमि, कै बिष्टा, कै ह्वे खाक उड़ैहै ।
 कहं वह नीर, कहां वह सोभा, कहं रंग-रूप दिखैहै ।
 जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं ।
 घर के कहत सबारे काढ़ी, भूत होइ धरि खैहैं ।
 जिन पुत्रनिहिं बहुत प्रतिपाल्यौ, देवी-देव मनैहैं ।
 तेई लै खोपरी बास दै, सीस फोरि बिखरैहैं ।
 अजहं मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि मैं कछु पैहै ।
 नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहै ।
 सूरदास भगवंत-भजन बिनु ब्रथा सु जनम गंवैहै ॥

(८)

राग सौरठ

नहिं अस जनम बारंबार ।

पुरबलौ धौं पुन्य प्रगळ्यौ, लह्यौ नर-अवतार ।
 घटै पल-पल, बढ़ै छिन-छिन, जात लागि न बार ।
 धरनि पत्ता गिरि परे तैं फिरि न लागै डार ।
 भय-उदधि जमलोक दरसै, निपट ही अंधियार ।
 सूर हरि कौ भजन करि-करि उत्तरि पक्षे-पार ॥

(१०)

राग सौरठ

अब कैं राखि लेहु भगवान ।

हौं अनाथ बैल्यौ द्रुम-डरिया, पारधि साधे बान ।

ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर दुख्यौ सचान ।
 दुहं भांति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान ?
 सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर झूख्यौ संधान ।
 सूरदास सर लग्यौ सचानहिं, जय-जय कृपानिधान ॥

(११)

राग गौरी

दयानिधि तेरी गति लखि न परै ।
 धर्म अधर्म, अधर्म धर्म करि, अकरन करन करै ।
 जय अरु विजय कर्म कह कीन्हौ, ब्रह्म-सराप दिवायौ ।
 असुर-जोनि ता ऊपर दीन्हौ, धर्म-उच्छेद करायौ ।
 पिता-वचन खंडै सो पापी, सोइ प्रह्लादहिं कीन्हौ ।
 निकसे खंभ-बीच तैं नरहरि, ताहि अभय पद दीन्हौ
 दान-धर्म बहु कियौ भानु-सुत, सो तुव बिमुख कहायौ ।
 बेद-बिरुद्ध सकल पांडव-कुल, सो तुम्हैं मन भायौ ।
 जज्ञ करत बैरोचन कौ सुत, बेद-बिहित-विधि-कर्मा ।
 सो छलि बांधि पताल पठायौ, कौन कृपानिधि, धर्मा ?
 द्विज-कुल-पतित अजामिल विषयी, गनिका-हाथ बिकायौ ।
 सुत-हित नाम लियौ नारायन, सो बैकांठ पठायौ ।
 पतिव्रता जालंधर-जुवती, सो पति-व्रत तैं टारी ।
 दुष्ट पुंश्चली, अधम सो गनिका सुवा पढ़ावत तारी ।
 मुक्ति-हेत जोगी सम साधै, असुर बिरोधै पावै ।
 अविगत गति करुनामय तेरी, सूर कहा कहि गावै ॥

(१२)

राग सारंग

अबिगत-गति जानी न परै ।

मन-बच-कर्म-अगाध, अगोचर, किहि बिधि बुधि संचरै ?

अति प्रचंड पौरुष बल पाएँ, केहरि भूख मरै ।

अनायास बिनु उद्यम कीन्हैं, अजगर उदर भरै ।

रोतै भरै, भरै पुनि ढारै, चाहै फेरि भरै ।

कबहुंक लन बूझै पानी मैं, कबहुंक सिला तरै ।

बागर तैं सागर करि डारै, चहु दिसि नीर भरै ।

पाहन-बीच कमल बिकसावै, जल मैं अगिनि जरै ।

राजा रंक, रंक तैं राजा, लै सिर छत्र धरै ।

सूर पतित तरि जाइ छिनक मैं, जो प्रभु नैकु ठरै ॥

(१३)

राग धनाश्री

प्रभु, मेरे गुन-अवगुन न बिचारौ ।

कौजै लाज सरन आए कौ, रवि-सुत-त्रास निवारौ ।

जोग-जज्ञ-जप-तप नहिं कीन्हौ, बेद बिमल नहिं भाख्यौ ।

अति रस-लुब्ध खान जूठनि ज्यौं, अनत नहीं चित राख्यौ ।

जिहिं जिहिं जोनि फिख्यौ संकट-बस तिहिं तिहिं यहुँ कमायौ ॥

काम-क्रोध-मद-लोभ-ग्रसित त्वै बिषय परम बिष खायौ ।

जौ गिरिपति मसि घोरि उदधि मैं, लै सुरतरु बिधि हाथ ।

मम कृत दोष लिखै बसुधा भरि, तज नहीं मिति नाथ ।

तुमहिं समान और नहिं दूजौ काहि भजौं हों दीन ।

कामी, कुटिल, कुचील, कुदरसन, अपराधी, मति-हीन ।

तुम तौ अखिल, अनंत, दयानिधि, अविनासी, सुख-रासि ।
 भजन-प्रताप नाहिं मैं जान्यौ, पख्यों मोहकी फांसि ।
 तुम सरबज्ञ, सबै विधि समरथ, असरन-सरन मुरारि ।
 मोह-समुद्र सूर बहत है, लीजै भुजा पसारि ॥

(१४)

राग सारंग

तुम हरि, सांकरे के साथी ।
 सुनत पुकार, परम आतुर है, दौरि छुडायौ हाथी ।
 गर्भ परीच्छित रच्छा कीन्ही, वेद-उपनिषद साखी ।
 बसन बड़ाइ द्रुपद-तनया की सभा मांभ पति राखी ।
 राज-रवनि गार्डं व्याकुल है, दै दै तिनकों धीरक ।
 मागध हति राजा सब छोरे, ऐसे प्रभु पर-पीरक ।
 कपटरूप निसिचर तन धरिकै अमृत पियौ गुन मानी ।
 कठिन परै ताह्र मैं प्रगटे, ऐसे प्रभु सुख-दानी ।
 ऐसैं कहैं कहां लगि गुन-गन, लिखत अंत नहिं लहिए ।
 कृपासिंधु उनहीं के लेखैं मम लज्जा निरबहिए ।
 सूर तुम्हारी आसा निबहै, संकट मैं तुम साथै ।
 ज्यों जानौ त्यों करौ, दीनकी बात सकल तुव हाथै ॥

(१५)

राग कान्हरी

दीन-नाथ अब बारि तुम्हारी ।
 पतित उधारन बिरद जानि कै, बिगरी लेहु संवारी ।
 बालापन खेलत ही खोयी, जुवा बिषय-रस मातैं ।
 बड़ भए सुधि प्रगटी मोकों, दुखित पुकारत तातैं ॥

सुतनि तज्यौ, तिय तज्यौ, भ्रात तज्यौ, तन तैं त्वच भई न्यारी ।
 स्रवन न सुनत, चरन-गति थाकी, नैन भए जलधारी ।
 पलित केस, कफ कांठ बिरुंध्यौ, कल न परति दिन-राती ।
 माया-मोह न छांडै लृष्णा, ये दोऊ दुख-थाती ।
 अब यह बिद्या दूरि करिबे कौं और न समरथ कोई ।
 सूरदास-प्रभु करुना-सागर, तुमतैं होइ सो होई ॥

(१६)

राग सारंग

कौन गति करिहौ मेरी नाथ !
 हौं तौ कुटिल, कुचील, कुदरसन, रहत बिषय के साथ ।
 दिन बीतत माया कै लालच, कुल-कुटुंब कै हेत ।
 सिगरी रैन नौंद भरि सोवत जैसैं पसू अचेत ।
 कागद धरनि, करै द्रुम लेखनि, जल-सायर मसि घोरै ।
 लिखै गनेस जनम भरि मम कृत, तऊ दोष नहिं ओरै ।
 गज, गनिका अरु बिप्र अजामिल, अगनित अधम उधारे ।
 यहै जानि अपराध करे मैं तिनहूँ सौं अति भारे ।
 लिखि लिखि मम अपराध जनम के, चित्रगुप्त अकुलाए ।
 भृगु रिषि आदि सुनत चक्रित भए, जम सुनि सीस डुलाए ।
 परम पुनीत-पवित्र, कृपानिधि, पावन-नाम कहायौ ।
 सूर पतित जब सुन्यौ बिरद यह, तब धीरज मन आयौ ॥

(१७)

राग देवगंधार

मोहिं प्रभु तुमसौं होड़ परी ।
 ना जानौं करिहौ अब कहा तुम नागर नवल हरी ।

हुतीं जितौ जग मैं अधमाई सो मैं सबै करी ।
 अधम-समूह उधारन-कारन तुम जिय जक पकरौ ।
 मैं जु रछौं राजीव-नैन, दुरि, पाप-पहार-दरौ ।
 पावहु मोहिं कहां तारन कौं, गूढ़-गंभीर खरी ।
 एक अधार साधु-संगति कौ, रचि पचि मति संचरी ।
 याह सौंज संचि नहिं राखी, अपनी धरनि धरी ।
 मोकौ मुक्ति विचारत हौ प्रभु, पचिहौ पहर-घरी ।
 अम तैं तुम्है पसीना ऐहै, कत यह टेक करी ?
 सूरदास बिनती कह बिनवै, दोषनि देह भरी ।
 अपनी विरद संहारहुगे तौ यामै सब निबरी ॥

(१८)

राग धनाश्री

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं ।
 कै तुमहीं-कै हमहीं, माघी, अपने भरोसैं लरिहौ ।
 हौं तौ पतित सात पीढ़िनि कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं ।
 अब हौं उधरि नचौ चाहत हौ, तुम्हैं विरद बिन करिहौं ।
 कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा ।
 सूर पतित तबहीं उठिहै, प्रभु, जब हंसि दैहौ बीरा ॥

(१९)

राग सारंग

प्रभु, हौ सब पतितनि कौ टीकौ ।
 और पतित सब दिवस चारि के, हौ तौ जनमत ही कौ ।
 बधिक, अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही कौं ।
 मोहिं छांड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यों जी कौ ?

कोउ न समरथ अध करिबे कौं, खैचि कहत हौं लीकौ ।
मरियत लाज सूर पतितनि मैं, मोह' तैं को नीकौ ॥

(२०)

राग जंगला तिताला

मो सम कौन कुटिल खल कामी ।
तुम सौं कहा छिपी करुनामय, सब के अंतरजामी ।
जो तन दियौ ताहि बिसरायौ, ऐसो नोन-हरामी ।
भरि भरि द्रोह बिषै कौं धावत, जैसैं सूकर ग्रामी ।
सुनि सतसंग होत जिय आलस, बिषयिनि संग बिसरामी ।
श्रीहरि-चरन छांड़ि बिमुखनि की निसि-दिन करत गुलामी ।
पापी परम, अधम, अपराधी, सब पतितनि मैं नामी ।
सूरदास प्रभु अधम-उधारन सुनियै श्रीपति स्वामी ॥

सुदामा-चरित

नरोत्तमदास (संवत् १५५० वि०—लगभग १६०५ वि०) ये कस्बा बाड़ी जिला सीतापुरके रहनेवाले ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि ये सं० १६०२ तक वहां वर्तमान थे। ये अच्छे कवि थे। इनकी बनायी दो काव्य-पुस्तकें हैं, 'सुदामा-चरित' और भ्रुव-चरित। सुदामा-चरितकी कविता बड़ी सुन्दर है। भाषा परिमार्जित है और उससे इनकी प्रतिभाका परिचय मिलता है। यह छोटासा काव्य बहुत प्रसिद्ध है। भ्रुवचरित नहीं मिलता।]

(दोहा)

स्त्री—

महादानि जिनके हितू, जदु-कुल-कौरव-चंद ।
ते दारिद-संताप तें, रहैं न किमि निरद्वंद ॥१॥

कह्यौ सुदामा “वाम ! सुनु, वृथा और सब भोग ।
सत्यभजन भगवान को, धर्म-सहित जप-जोग” ॥२॥

(कवित्त)

लोचन-कमल दुख-मोचन तिलक भाल,
सवननि कुंडल सुकुट धरे माथ हैं ।
ओढ़े पीत-वसन गरे मैं वैजयंती-माल,
संख चक्र गदा और पद्म लिए हाथ हैं ॥
कहत नरोत्तम संदीपनि गुरु के पास,
तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं ।
हारका के गए हरि दारिद हरेंगे पिय,
हारिका के नाथ वै अनाथन के नाथ हैं ॥३॥

(सवैया)

सुदामा—

सिच्छक हो सिगरे जग को तिय ! ताको कहा अब देति है सिच्छा
जे तप के परलोक सुधारत संपति की तिनके नहिं इच्छा ॥
मेरे हिये हरि के पद-पंकज बार हजार लै देखु परिच्छा ।
औरन को धन चाहिय वावरि बांभन को धन केवल भिच्छा ॥४॥

बी—

दानी बड़े तिहुं लोकन मैं जग जीवत नाम सदा जिनको लै ।
दीनन की सुधि लेत भली विधि सिद्धि करौ पिय मेरो मतो लै ॥
दीनदयाल के द्वार न जात सो और के द्वार पै दीन है बोलै ।
श्रीयदुनाथ से जाके हितू सो तिहूँ पन क्यों कन मांगत डोलै ॥५॥

सुदामा—

छत्रिन के प्रन जुद्ध, जुवा, सजि बाजि चढ़ गजराजन ही ।
वैस को बानिज और कृषी, प्रन सूद्र को सेवन-साजन ही ॥
बिप्रन को प्रन है जु यही सुख संपति सों कछु काज नहीं ।
कै पढ़िबो कै तपोधन है कन मांगत बांभनै लाज नहीं ॥६॥

क्षी—

कोदो सवां जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौती ।
सीत बितीत गयो सिसियातहि हौं हठती पै तुम्हें न हठौती ॥
जो जनती न हितू हरि सो तुम्हें काहे को द्वारिकै पेलि पठौती ।
या घर तें न गयो कबहू पिय । टूटो तवा अरु फूटी कठौती ॥७॥
पूरन पैज करी प्रह्लाद की खंभ सों बांध्यो पिता जिहि बेरे ।
द्रौपदी ध्यान धख्यो जबहीं तबहीं पट-कोट लगे चहुं फेरे ॥
ग्राह तें छूटि गयंट गयो पिय ! है हरि को निहचै जिय मेरे ।
ऐसे दारिद्र हजार हरैं वै कृपानिधि लोचन-कोर के हरे ॥८॥

सुदामा—

चक्रवै चौंकि रहै चकि-से तहां भूले-से भूप अनेक गनाज' ।
देव गंधर्व औ किन्नर जच्छ से सांभ लौं देखे खरे जिहि ठाज' ॥
तै दरबार बिलोक्यो नहीं अब तोहि कहा कहिकै समुभाज' ।
रोकिए लोकन के मुखिया तहं हौं दुखिया किमि पैठन पाज' ॥९॥

क्षी—

भूले से भूप अनेक खरे रही ठाढ़े रही तिमि चक्रवै भारी ।
देव गंधर्व औ किन्नर जच्छ से रोके जे लोकन के अधिकारी ॥
अंतरजामी वै आपुही जानिहैं मानो, यहै सिख लेहु हमारी ।
द्वारिकानाथ के द्वार गए सब तें पहिले सुधि लैहैं तुम्हारी ॥१०॥

सुदामा—

दीनदयाल को ऐसोई द्वार है दीनन की सुधि लेत सदाई ।
 द्रौपदी तें गज तें प्रह्लाद तें जानि परी न बिलंब लगाई ॥
 याही तें भावत मो-मन दीनता जौ निबहै निबही जस आई ।
 जौ ब्रजराज सों प्रीति नहीं केहि काज सुरेसहु की ठकुराई ॥११॥
 प्रीति मैं चूक न है उनके हरि मो मिलिहै उठि कंठ लगायकै ।
 द्वार गए कछु दैहै पै दैहै व द्वारिकानाथ जु है सब लायकै ॥
 या बिधि बीति गए पन है अब तो पहुँचौ बिरधापन आयकै ।
 जीवन केती है जाके लिए हरि सों अब होहुं कनावडो जायकै ॥१२॥

क्षी—

हुजे कनावडो बार हजार-लौं जौ हितू दीनदयाल-सो पाइए ।
 तीनहुं लोक के ठाकुर हैं तिनके दरबार न जात लजाइए ॥
 मेरी कही जिय मैं धरिकै पिय । भूलि न और प्रसंग चलाइए ।
 और के द्वार सो द्वार कहा पिय ! द्वारिकानाथ के द्वारे सिधाइए ॥१३॥

सुदामा—

द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू आठहु जाम यहै भक्त तेरे ।
 जौ न कहो करिए तौ बडो दुख जए कहां अपनी गति हेरे ॥
 द्वार खरे प्रभु के छरिया तहं भूपति जान न पावत नेरे ।
 पांच सुपारी तैं देखु बिचारिकै भेंट कौं चारि न चाउर मेरे ॥१४॥

(दोहा)

यह सुनिकै तब ब्राम्हनो, गई परोसिनि-पास ।
 पाव-सेर चाउर लिए, आई सहित-हुलास ॥१५॥

सिद्धि करौ गनपति सुमिरि, बांधि दुपटिया-खूंट ।
 मांगत खात चले तहां, मारग बाली बूट ॥१६॥
 प्रात गोमती दरस तें, अति प्रसन्न भो चित्त ।
 बिप्र तहां अमनान करि, कीन्हो नित्त-निमित्त ॥१७॥
 भाल तिलक घसिकै दियौ, गही सुमिरनी हाथ ।
 देखि दिव्य द्वारावती, भयौ अनाथ सनाथ ॥१८॥

(कवित्त)

दीठि चकचौंधि गई देखत सुवर्नमर्द,
 एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं ।
 पूछे बिन कोऊ काहूँ काहूँ सों न करै बात,
 देवता-से बैठे सब साधि-साधि मौन हैं ॥
 देखत सुदामै धाय पीरजन गहे पाय,
 “कृपा करि कहौ विप्र कहां कीन्हों गौन है ?”
 “धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के,
 बताओ बलबीर के महल यहां कौन हैं ?” ॥१९॥

(दोहा)

दीन जानि काहूँ पुरुष, कर गहि लीन्हों आय ।
 दीनहि द्वार खरो कियौ दीनदाल के जाय ॥२०॥
 द्वारपाल द्विज जानि कै, कीन्हों दंडप्रनाम ।
 “विप्र ! कृपा करि भाषिए, सकुल आपनो नाम” ॥२१॥

सुदामा—

नाम सुदामा कृष्ण हम, पढ़े एकई साथ ।
 कुल पांडे, ब्रजराज सुनि सकल जानिहैं नाथ ॥२२॥

हारपाल चलि तहं गयी, जहां लस-जदुराय ।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयी, बोल्यो सीस नवाय ॥२३॥

(सवैया)

हारपाल—

सीस पगा न भंगा तन मैं प्रभु । जानै को आहि । बसै केहि ग्रामा ।
धोती फटी सी लटी-दुपटी अरु पाय उपानह की नहिं सामा ॥
हार खरौ द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा ।
पूछत दीनदयाल के धाम बतावत आपनो नाम सुदामा ॥२४॥

(कवित्त)

बोल्यो हारपालक 'सुदामा नाम पांडे' सुनि,
छोडे राज-काज ऐसे जी की गति जानै को ?
हारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पांय,
भेटे लपटाय करि ऐसे दुख-सानै को ?
नैन दोऊ जल भरि पूछत कुसल हरि,
बिप्र बोल्यो 'बिपदा मैं मोहिं पहिचानै को ?
जैसी तुम करी तैसी करै को लपा के सिन्धु ।
ऐसी प्रीति दीनबन्धु । दीनन सों मानै को ?' ॥२५॥

(सवैया)

लोचन पुरि रहै जल सों प्रभु दूरि तें देखत ही दुख मेख्यौ ।
सोच भयी सुरनायक के कलपद्रुम के हिय मांझ खखेख्यौ ॥
कंप कुबेर-हिये सरसी, परसे पग जात सुमेरु ससेख्यौ ।
रंक तें राउ भयी तबहीं जबहीं भरि अंक रमापति भेंख्यौ ॥२६॥

(दोहा)

भेंटि भली बिधि बिप्र सों, कर गहि त्रिभुवनराय ।
 अन्तःपुर को लै गए, जहां न दूजौ जाय ॥२७॥
 मनिमंडित चौकी कनक, ता ऊपर दैठाय ।
 पानी धरौ परात में, पग-धोवन कौं लाय ॥२८॥
 राज-रमनि सोरह-सहस, सह-सेवकन स-मीत ।
 आठौ परानी भई चकित, चितै यह प्रीत ॥२९॥
 जिनके चरनन को सलिल, हरत जगत-संताप ।
 पांय सुदामा बिप्र के, धोवत ते हरि आप ॥३०॥

(सवैया)

ऐसे बेहाल बेवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोए ।
 'हाय ! महादुख पायौ सखा । तुम आए इतै न कितै दिन खोए ।
 देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए ।
 पानी परात को हाथ छुयौ नहिं नैनन के जल सों पग धोए ॥३१॥

परशुराम-लक्ष्मण संवाद

[तुलसीदास (संवत् १५८९-१६८० वि०,—ये हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनकी कविताका प्रचार राजमहलसे लेकर गरीबकी भीपडीतक है। इतना गौरव किसी कविको नहीं मिला। भाषापर इनका असाधारण अधिकार था। भाव बड़े ही उत्तम है। इनकी कवितामें सभी रसोंका समावेश है, पर भक्तिरस प्रधान है। हिन्दी साहित्यके प्रसारमें इनसे जो सहायता मिली है उसके लिये हिन्दी संसार सदा इनका ऋणी रहेगा।]

अरुणनयन भृकुटीकुटिल, चितवत नृपन सकोप ।
मनहुं मत्तगजगण निरखि, सिंहकिशोरहि चोप ॥१॥

खरभर देखि बिकल पुरनारी ।
सब मिलि देहिं महीपन गारी ॥
तेहि अवसर सुनि शिवधनुभंगा ।
आए भृगुकुलकमलपतंगा ॥
देखि महीप सकल सकुचानि ।
बाज भपट जुनु लवा लुकानि ॥
गौर शरीर भूति भलि भ्राजा ।
भाल विशाल त्रिपुंड्र बिराजा ॥
शीश जटा शशि वदन सुहावा ।
रिसिवश ककुक अरुण होइ आवा ॥
भृकुटीकुटिल नयन रिसि राते ।
सहजहिं चितवत मनहुं रिसाते ॥
लषभकंध उर बाहु विशाला ।
चारु जनेउ माल मृगछाला ॥
कटि मुनिबसन तूण दुइ बांधे ।
धनु शरकर कुठार कल कांधे ॥

शांति वेष करणी कठिन, वरणि न जाय स्वरूप ।
धरि मुनितनु जुनु वीररस, आएउ जहं सब भूप ॥२॥
देखत भृगुपति वेष कराला ।
उठे सकल भयविकल भुवाला ॥
पितुसमेत कहि कहि निज नामा ।
लगे करन सबद ण्ड प्रणामा ॥

जेहि सुभाव चितवहिं हित जानी ।
 सो जानै जनु आयु खुटानी ॥
 जनक बहोरि आइ शिर नावा ।
 सौय बुलाइ प्रणाम करावा ॥
 आशिष दीन्ह सखी हरषानी ।
 निजसमाज लै गई सयानी ॥
 विश्वामित मिले पुनि आई ।
 पदसरोज मेले दोउ भाई ॥
 राम लषण दशरथ के ढोटा ।
 दीन्ह अशीश जानि भल जोटा ॥
 रामहिं चितय रहे थकि लोचन ।
 रूप अपार मारमदमोचन ॥

बहुरि बिलोकि विदेहसन, कहहु कहा अति भीर ।
 पूछत जान अजान जिमि, व्यापेउ कोप शरीर ॥३॥

समाचार कहि जनक सुनाए ।
 जेहि कारण महीप सब आए ॥
 सुनत बचन फिरि अनत निहारे ।
 देखे चापखंड महि डारे ॥
 अति रिस बोले बचन कठोरा ।
 कहहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा ॥
 बेगि देखाउ मूढ़ नतु आजू ।
 उलटौ महि जहं लगि तव राजू ॥
 अति डर उतर देत नृप नाहीं ।
 कुटिल भूप हरषे मन माहीं ॥

सुर मुनि नाग नगर-नरनारी ।
 सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥
 मन पछितात सीय महतारी ।
 विधि संवारि सब बात बिगारी ॥
 भृगुपतिकर सुभाव सुनि सीता ।
 अर्धनिमेष कल्पसम बीता ॥
 सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीर ।
 हृदय न हर्ष विषाद कछु, बोले श्रीरघुबीर ॥४॥
 नाथ शम्भुधनुर्भजनहारा ।
 होइहि कोउ इक दास तुम्हारा ॥
 आयसु कहा कहिय किन मोहीं ।
 सुनि रिसाय बोले मुनि कोही ॥
 सेवक सो जो करै सेवकाई ।
 अरिकरणी करि करिय लराई ॥
 सुनहु राम जेहि शिवधनु तोरा ।
 सहसबाहुसम सो रिपु मोरा ॥
 सो बिलगाइ बिहाइ समाजा ।
 नतु मारे जैहै सब राजा ॥
 सुनि मुनिबचन लषण सुसकाने ।
 बोले परशुधरहिं अपमाने ॥
 बहू धनुही तोरेउ' लरकाई ।
 कबहु' न अस रिस कीन्ह गुसाई ॥
 इहि धनुपर ममता केहि हेतू ।
 सुनि रिसाय कह भृगुकुलकेतू ॥

रे नृपबालक कालवश, बोलत तोहि न संभार ।
धनुहीसम त्रिपुरारिधनु, विदित सकल संसार ॥५॥

लक्षण कहा हंसि हमरे जाना ।

सुनहु देव सब धनुष समाना ॥

का क्षति लाभ जीर्ण धनु तोरे ।

देखा राम नये के भोरे ॥

छूवत टूट रघुपतिहिं न दोष ।

मुनि बिनु काज करिय कत रोष ॥

बोले चितइ परशु की ओरा ।

रे शठ सुनेसि सुभाव न मोरा ॥

बालक बोलि बधौं नहिं तोहीं ।

केवल मुनि जड़ जानेसि मोहीं ॥

बालब्रह्मचारी अति कोही ।

बिष्वविदित क्षत्रीकुलद्रोही ॥

भुजबल भूमि भूपबिनु कीन्हीं ।

बिपुलबार महिदेवन दीन्हीं ॥

सयसबाहुभुजछेदनिहारा ।

परशु बिलोकु महीपकुमारा ॥

मातुपितहिं जनि सोचवश, करसि महीपकिशोर ।

गर्भनके अर्भकदलन, परशु मोर अति घोर ॥६॥

बिहंसि लखन बोले मृदु बानी ।

अहो मुनीश महाभटमानौ ॥

पुनि पुनि मोहिं देखाव कुठारा ।

चहत उड़ावन फूँकि पहारा ॥

इहां कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं ।
 जो तर्जनि देखत मरिजाहीं ॥
 देखि कुठार शरासन बाना ।
 मैं कछु कहा सहितअभिमाना ॥
 भृगुकुल समुक्ति जनेउ बिलोकी ।
 जो कछु कहहु सहैं रिस रोकी ॥
 सुर सहिसुर हरिजन अरु गाई ।
 हमरे कुल इनपर न सुराई ॥
 बधे पाप अपकीरति हारे ।
 मारतहं पां परिय तुम्हारे ॥
 कोटिकुलिशसम बचन तुम्हारा ।
 हृथा धरहु धनुबाण कुठारा ॥
 जो बिलोकि अनुचित कहेउ', चमहु महामुनि धीर ।
 सुनि सरोष भृगुवंशमणि, बोले गिरा गंभीर ॥७॥

कौशिक सुनहु मन्द यह बालक ।
 कुटिल कालवश निजकुलघालक ॥
 भानुवंशराकेशकलंकू ।
 निपट निरंकुश अबुध अशंकू ॥
 काल कवर होइहिं क्षणमाहीं ।
 कहौं पुकारि खोरि मोहिं नाहीं ॥
 तुम हटकहु जो चहहु उवारा ।
 कहि प्रताप बल रोष हमारा ॥
 लषण कहेउ सुनि सुयश तुम्हारा ।
 तुमहिं अछत को बरैण पारा ॥

अपने सुख तुम आपनि करणी ।
 बार अनेक भांति बहु बरणी ॥
 नहिं संतोष तो पुनि ककु कहह ॥
 जनि रिस रोकि दुसह दुख सहह ॥
 बीरवृत्ति तुम धीर अछोभा ।
 गारी देत न पावहु शोभा ॥

शूर समरकरणी करहिं, कहि न जनावहिं आयु ।
 विद्यमान रण पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रलापु ॥८॥

तुम तौ काल हांकि जनु लावा ।
 बार बार मोहिं लागि बुलावा ॥
 सुनत लषण के बचन कठोरा ।
 परशु सुधारि धरेउ कर घोरा ॥
 अब जनि देख दोष मोहिं लोगू ।
 कटुबादी बालक बधयोगू ॥
 बाल बिलोकि बहुत मैं बांचा ।
 अब यह मरनहार भा सांचा ॥
 कौशिक कहा क्षमिय अपराधू ।
 बालदोषगुण गणहिं न साधू ॥
 कर कुठार मैं अकरन कोही ।
 आगे अपराधी गुरुद्रोही ॥
 उतर देत छांडौ बिनुमारे ।
 केवल कौशिक शील तुम्हारे ॥
 नतु यहि काटि कुठार कठोरे ।
 गुरुहिं उरिन होतेउं अम थोरे ॥

गाधिसुअन कह हृदय हंसि, मुनिहिं हरि अरे सूभ ।

अजगव खण्डेव ऊखजिमि, अजहुं न बूभ अदूभ ॥८॥

कहेउ लषण मुनि शील तुम्हारा ।

को नहिं जानूँ विदितसंसारा ॥

मातुहि पितुहि उरिण भये नीके ।

गुरुरिण रहा सोच बड जीके ॥

सो जनु हमरेहिं माये काढ़ा ।

दिन चलि गयउ व्याज बहु बाढ़ा ॥

अब आनिय व्यवहरिया बोली ।

तुरत देउ' मै थैली खोली ॥

सुनि कटु बचन कुठार सुधारा ।

हाहा करि सब लोग पुकारा ॥

भृगुवर परशु दिखावहु मोहीं ।

विप्र विचारि बचौ नृपद्रोही ॥

मिले न कबहुं सुभट रणगाढ़े ।

द्विज देवताघरहिं के बाढ़े ॥

अनुचित कहि सब लोग पुकारे ।

रघुपति सैनहिं लषण निवारे ॥

लषण उतर आहुतिसरिस, भृगुपतिकोपल्लशानु ।

बढ़त देखि जलसम बचन, बोले रघुकुलभानु ॥१०॥

नाथ करहु बालकपर छोड़ ।

शुद्धदूधमुख करिय न कोढ़ ॥

जोपै प्रभुप्रभाव कछु जाना ।

तौकि बराबरी करत अयाना ।

जौ लरिका ककु अनुचित करहीं ।
 गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥
 करिय कृपा शिशु सेवक जानी ।
 तुम सम शील धीर मुनि ज्ञानी ॥
 रामबचन सुनि ककुक जुड़ाने ।
 कहि ककु लषण बहुरि मुसुकाने ॥
 हसत देखि नख शिखरिस व्यापी ।
 राम तोरभ्राता बड़ पापी ॥
 गौर शरीर श्याम मनमाहीं ।
 कालकूटमुख पयमुख नाहीं ॥
 सहज टेढ़ अनुहरै न तोहीं ।
 नीच मीचसम लखै न मोहीं ॥

लषण कहेउ हंसि सुनहु मुनि, क्रोध पापकरमूल ।
 जेहिवश जन अनुचित करहिं, चरेहिं विश्वप्रतिकूल ॥११॥

मैं तुम्हार अनुचर मुनि राया ।
 परिहरि क्रोध करिय अब दाया ॥
 टूट चाप नहिं जुरहिं रिसाने ।
 बठिय होइहिं पांय पिराने ॥
 जौ अति प्रिय तौ करिय उपाई ।
 जोरिय कोउ बड़ गुणी बुलाई ॥
 बोलत लषणहिं जनक डेराहीं ।
 मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं ॥ -
 थर थर कांपहिं पुरनरनारी ।
 छोट कुमार खोट अति भारी ॥

भृगुपति सुनि सुनि निर्भय बानी ।

रिस तनु जरै होइ बलहानी ॥

बोले रामहिं देइ निहोरा ।

बचौ विचारि बंधु लघु तोरा ॥

मन मलीन तनु सुन्दर कैसे ।

विषरस भरा कनकघट जैसे ॥

सुनि लक्ष्मण विहंसे बहुरि, नयन तरेरे राम ।

गुरुसमीप गवने सकुचि, परिहरि बाणी वास ॥१२॥

अतिविनीत मृदु शीतल बाणी ।

बोले राम जोरि युगपाणी ॥

सुनहु नाथ तुम सहज सुजाना ।

बालकवचन करिय नहिं काना ॥

बररे बालक एक सुभाऊ ।

इनहिं न सन्त विदूषहिं काऊ ॥

तिन्ह नाहीं कछु काज विगारा ।

अपराधी मै नाथ तुम्हारा ॥

लुपा कोप बध बंधु गुसाई ।

मोपर करिय दास की नाई ॥

कहिय वेगि जेहिविधि रिस जाई ।

सुनिनायक सोइ करिय उपाई ॥

कह सुनि राम जाइ रिस कैसे ।

अजहुं अनुज तव चितव अनैसी ॥

यहिके कांठ कुठार न दीन्हा ।

तो मैं कहा कोप करि कीन्हा ॥

गर्भं स्रवहिं अबनिपरमनि, सुनि कुठारगति घोर ।
परशु अकृत देखौं जियत, बैरी भूपकिशोर ॥१३॥

बहै न हाथ दहै रिस छाती ।
भा कुठार कुण्ठित नृपघाती ॥
भयउ वाम विधि फिरेउ सुभाऊ ।
मोरे हृदय कृपा कस काऊ ॥
आजु दैव दुख दुसह सहावा ।
सुनि सौमित्र बिहंसि शिर नावा ॥
नाथ कृपामूरति अनुकूला ।
बोलत बचन भरत जनु फूला ॥
जौपै कृपा जरै सुनिगाता ।
क्रोध भये तनु राख विधाता ॥
देख जनक हठि बालक एह ।
कीन्ह चहत जड़ यमपुर गेह ॥
वेगि करहु किन आंखिन ओटा ।
देखत छोट खोट नृपढोटा ॥
बिहंसे लषण कहा सुनि पाहीं ।
मूंदिय आंखि कतहु' कोउ नाहीं ॥

परशुराम तब राम प्रति, बोले बचन सक्रोध ।

शंभु सरासन तोरि शठ, करसि हमार प्रबोध ॥१४॥

बंधु कहै कटु सम्मत तोरे ।
तू छल विनय करसि करजोरे ॥
कर परितोष मोर संग्रामा ।
नाहित छांडु कहाउब रामा ॥

छल तजि करहु समर शिवद्रोही ।
 बंधुसहित नतु मारौं तोही ॥
 भृगुपति कहहिं कुठार उठाए ।
 मन मुसुकाहिं राम शिर नाए ॥
 गुनहु लषणकर हमपर रोषू ।
 कतहु सुधाइहुते बड दोषू ॥
 टेढ जानि शङ्का सब काहू ।
 वक्रचंद्रमहिं ग्रसै न राहू ॥
 राम कहेउ रिस तजिय सुनीशा ।
 कर कुठार आगे थह शीशा ॥
 जेहि रिस जाय करिय सोइ स्वामी ।
 मोहिं जानि आपन अनुगामी ॥
 प्रभुसेवकहिं समर कस, तजहु विप्रवर रोष ।
 वेप्र बिलोकि कहेसि कछु, बालकहू नहिं दोष ॥१५॥
 देखि कुठार बाण धनुधारी ।
 भइ लरिकहिं रिस वीर बिचारी ॥
 नाम जान पै तुमहिं न चीन्हा ।
 बंशसुभाव उतर तेहि दीन्हा ॥
 जौ तुम अवतेहु मुनिकी नाई ।
 पदरज शिर शिशु धरत गुसाई ॥
 छमहु चूक अनजानत केरी ।
 चहिय विप्रउर क्षपा घनेरी ॥
 हमहिं तुमहिं सरवर कस नाथा ।
 कहहु तो कहां चरण कहं माथा ॥

राममात्र लघु नाम हमारा ।
 परशुसहित बड़ नाम तुम्हारा ॥
 देव एकगुण धनुष हमारे ।
 नवगुण परम पुनीत तुम्हारे ॥
 सब प्रकार हम तुमसन हारे ।
 क्षमहु बिप्र अपराध हमारे ॥
 बारबार मुनि विप्रवर, कहा रामसन राम ।
 बोले भृगुपति सरुष होइ, तुहँ बन्धुसम बाम ॥१६॥
 निपटहिं द्विज करि जानेउ मोहीं ।
 मैं जस विप्र सुनावौ तोहीं ।
 चाप श्रुवा शर आहुति जानू ।
 कोप मोर अति घोर क्लशानू ॥
 समिध सेन चतुरङ्ग सुहार्द ।
 महामहीप भए पशु आर्द्र ॥
 मैं यहि परशु काटि बलि दीन्हा ।
 समरयज्ञ जग कोटिन कीन्हा ॥
 मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे ।
 बोलेसि निदरि विप्रके भोरे ॥
 भञ्जैउ चाप दाप बड़ बाढ़ा ।
 अहमिति मनहु' जीति जग ठाढ़ा ॥
 राम कहा मुनि कहहु विचारी ।
 रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी ॥
 कुवतहिं टूट पिनाक पुराना ।
 मैं केहि हेतु करौ अभिमाना ॥

जौ हम निदरहिं विप्रवर, सत्य सुनहु भृगुनाथ ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयवश नावहिं माथ ॥१७॥

देव दनुज भूपति भट नाना ।
समबल अधिक होउ बलवाना ॥
जो रण हमहिं प्रचारै कोऊ ।
लरहिं सुखेन काल कि न होऊ ॥
क्षत्रियतनु धरि समरसकाना ।
कुलकलङ्क तेहि पामर जाना ॥
कहौं स्वभाव न कुलहिं प्रसंशी ।
कालहु डरहिं न रण रघुवंशी ॥
विप्रवंशकी अस प्रभुतार्ई ।
अभय होइ जो तुमहिं डरार्ई ॥
सुनि मृदु गूढ़ वचन रघुपतिके ।
उघरे पटल परशुधरमतिके ॥
रामरमापति कर धनु लेह ॥
खैचहु चाप मिटै सन्देह ॥
देत चाप आपहिं चढ़ि गयऊ ।
परशुराम मनविस्मय भयऊ ॥

जाना रामप्रभाव तब, पुलकि प्रफुल्लित गात ।
जोरि पाणि बोले वचन, प्रेम न हृदयसमात ॥१८॥

जय रघुवंश-वनज-वनभान् ।
गहन दनुजकुल-दहन-क्षणान् ॥
जय सुरविप्रधेनुहितकारी ।
जय मद मोह कोह भ्रमहारी ॥

विनयशील करुणागुणसागर ।
 जयति बचनरचना अति नागर ॥
 सेवकसुखद सुभगसबअङ्गा ।
 जय शरीरकविकोटिअनङ्गा ॥
 करौं कहा सुख एक प्रशंसा ।
 जय महेशमनमानसहंसा ॥
 अनुचित बहुत कहेउं अज्ञाता ।
 क्षमहु क्षमामंदिर दोउ भ्राता ॥
 कहि जय जय जय रघुकुलकेतू ।
 भृगुपति गये बनहिं तपहेतू ॥
 अब भय कुटिल महीप डराने ।
 जहं तहं कायर गवहिं पराने ॥
 देवन दोन्हीं दुंदुभी, प्रभुपर वर्षहिं फूल ।
 हरषे पुरनरनारि सब, मिटा मोह भय शूल ॥१८॥

विनय-पत्रिका

[गंगाधर तिलसीदास]

(१)

माधव, मो समान जग माहीं ।
 सब विधि छीन, मलीन, दीन अति, लीन-विषय कोउ नाहीं ॥१॥
 तुम सम हेतु-रहित कृपालु आरत-हित ईस न त्यागी ।
 मैं दुख-सोक-बिकल, कृपालु केहि कारन दया न लागी ॥२॥

नाहिं न ककु औगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना ।
 ग्यान-भवन तनु दियेहु नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना ॥३॥
 वेनु करील, श्रीखण्ड बसन्तहि दूषन मृषा लगावै ।
 सार-रहित हत-भाग्य सुरभि, पल्लव सो कहु किमि पावै ॥४॥
 सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ बिचार जिय मोरे ।
 तुलसिदास प्रभु मोह-मृङ्खला, कुटिहि तुम्हारे छोरे ॥५॥

(२)

साधव, मोह-पास * क्यों टूटै ।

बाहर कोटि उपाय करिय अभ्यंतर ग्रन्थि न कूटै ॥१॥
 घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिम्ब दिखावै ।
 इंधन अनल लगाय कल्पसत, औंटत नास न पावै ॥२॥
 तरु-कोटर महं बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसे ।
 साधन करिय बिचार-हीन मन, सुद्ध होइ नहि तैसे ॥३॥
 अंतर मलिन, विषय मन अति, तन पावन करिय पखारे ।
 मरइ न उरग अनेक जतन बलमौकि विविध विधि मारे ॥४॥
 तुलसिदास हरि-गुरु-करुना विनु, बिमल बिवेक न होई ।
 विनु बिवेक संसार-घोर-निधि, पार न पावै कोई ॥५॥

(३)

साधव असि तुम्हारि यह माया ।

करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया ॥१॥
 सुनिय, गुनिय, समुक्तिय, समुभाइय, दसा हृदय नहिं आवै ।
 जेहि अनुभव विनु मोहजनित भव, दारुन बिपति सतावै ॥२॥

ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल जोपै मन सो रस पावै ।
 तौ कत मृगजल-रूप विषय कारन निसिबासर धावै ॥३॥
 जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत कांच बटोरै ।
 सपने परबस परै जागि देखत केहि जाइ निहोरै ॥४॥
 ग्यान भक्ति साधन अनेक सब सत्य, भूठ कछु नाहीं ।
 तुलसिदास हरि-कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मनमाहीं ॥५॥

(४)

हे हरि, कवन दोष तोहि दीजै ।
 जेहि उपाय सपनेहुं दुरलभ गति, सोइ निसिबासर कीजै ॥१॥
 जानत अर्थ अनर्थ-रूप, तमकूप परब यहि लागि ।
 तदपि न तजत खान अज खर ज्यों, फिरत विषय अनुरागे ॥२॥
 भूत-द्रोह कृत मोह-बस्य हित आपन मैं न बिचारो ।
 मद-मत्सर-अभिमान ग्यान-रिपु, इन महं रहनि अपारो ॥३॥
 वेद-पुरान सुनत समुक्त रघुनाथ सकल जगव्यापी ।
 वेधत नहिं श्रीखंड वेनु इव, सारहीन मन पापी ॥४॥
 मैं अपराध-सिंधु, करुणाकर ! जानत अंतरजामी ।
 तुलसिदास भव-व्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ॥५॥

(५)

हे हरि, कवन जतन सुख मानहुं ।
 ज्यों गज-दसन तथा मम करनी, सब प्रकार तुम जानहु ॥१॥
 जो कछु कहिय करिय भवसागर तरिय बत्सपद जैसे ।
 रहनि आन बिधि, कहिय आन, हरिपद-सुख पाइय कैसे ॥२॥

देखत चारु मयूर बैन सुभ बोल सुधा द्रव सानी ।
 सविष, उरग-आहार निठुर अस, यह करनी वह बानी ॥३॥
 अखिल-जीव-वत्सल निरमत्सर, चरन-कमल-अनुरागी ।
 ते तव प्रिय रघुबीर धीरमति, अतिसय निज-पर-त्यागी ॥४॥
 जद्यपि मम औगुन अपार संसार-जोग्य रघुराया ।
 तुलसिदास निजगुन विचारि करुनानिधान करु दाया ॥५॥

(६)

हे हरि, कवन जतन भ्रम भागै ।
 देखत सुनत विचारत यह मन, निज सुभाउ नहिं त्यागै ॥१॥
 भक्ति, ग्यान, बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई ।
 कोउ भल कहउ, देउ कछु कोऊ, असि वासना हृदय ते न जाई ॥२॥
 जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागै ।
 निज करनी बिपरीत देखि मोहि, समुक्ति महाभय लागै ॥३॥
 जद्यपि भग्न मनोरथ विधिवस, सुख इच्छत दुःख पावै ।
 चित्रकार करहीन जथा स्वारथ बिनु चित्र बनावै ॥४॥
 हृषीकेश सुनि नाम जाउं बलि, अति भरोस जिय मोरे ।
 तुलसिदास इंद्रिय-संभव दुख, हरे बनिहि प्रभु तोरे ॥५॥

(७)

हे हरि, कस न हरहु भ्रम भारी ।
 जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥१॥
 अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहि जाई गुसाईं ।
 बिन बांधे निज हठ सठ परबस पखो कीर की नाईं ॥२॥

सपने व्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई ।
 बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई ॥३॥
 स्रुति-गुरु-साधु-स्मृति-संमत यह दृश्य सा दुखकारी ।
 तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी ॥४॥
 बहु उपाय संसार-तरन कहं बिमल गिरा स्रुति गावै ।
 तुलसिदास मै-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुं न पावै ॥५॥

(८)

जौ निज मन परिहरै बिकारा ।
 तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय सोक अपारा ॥१॥
 सतु मित्र मध्यस्थ तीनि ये, मन कीन्हें बरिआई ।
 त्यागन गहन उपेच्छनीय, अहि हाटक तन की नाई ॥२॥
 असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महं रह जैसे ।
 सरग नरक चर अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे ॥३॥
 बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महं कंचुकि बिनहिं बनाये ।
 मन महं तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये ॥४॥
 रघुपति-भक्ति-बारि-छालित चितं, बिनु प्रयास ही सूझै ।
 तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै ॥५॥

(९)

रुचिर रसना तू राम राम क्यों न रटत ।
 सुमिरत सुख सुकृत बढ़त अघ अमंगल घटत ॥१॥
 बिनु खम कलि-कलुष-जाल कंटु कराल कंटत ।
 दिनकर के उदय जैसे तिमिर-तोम फटत ॥२॥

जोग जाग जप बिराग तप सुतीर्थ अटत ।
 बांधिवेको भव-गयन्द रेनु कि रजु बटत ॥३॥
 परिहरि सुर-मनि सुनाम गुंजा लखि लटत ।
 लालच लघु तेरो लखि तुलसि तोहिं हटत ॥४॥

(१०)

राम राम, राम राम, राम राम, जपत
 मंगल सुद उदित होत, कलि-मल-कल छपत
 कहु के लहे फल रसाल, बबुर-बीज बपत ।
 हारहि जनि जनम जाय गाल गूल गपत ॥२॥
 काल करम गुन सुभाउ सबके सोस तपत ।
 राम-नाम-महिमा की चरचा चले चपत ॥३॥
 साधन बिनु सिद्धि सकल बिकल लोग लपत ।
 कलिजुग बर बनिज बिपुल नाम-नगर खपत ॥४॥
 नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुधिर थपत ।
 पावन किये रावन-रिपु तुलसिहु से अपत ॥५॥

(११)

मैं हरि, पतित-पावन सुने ।
 मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने ॥१॥
 ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने ।
 और अधम अनेक तारे जात कापै गने ॥२॥
 जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने ।
 दासतुलसी सरन आयो, राखिये अपने ॥३॥

(१२)

जो पै जिय जानकी-नाथ न जाने ।

तौ सब करम धरम समदायक ऐसेइ कहत सयाने ॥१॥

जे सुर, सिद्ध, मुनीस, जोगविद बेद पुरान बखाने ।

पूजा लेत देत पलटे सुख हानि-लाभ अनुमाने ॥२॥

काको नाम धोखेइ सुमिरत पातकपुंज सिराने ।

बिग्र, बधिक, गज, गौध कोटि खल कौन के पेट समाने ॥३॥

मेरु से दोष दूरि करि जन के, रेनु से गुन उर आने ।

तुलसिदास तेहि सकल आस तजि भजहि न अजहुं अयाने ॥४॥

(१३)

काहे न रसना, रामहिं गावहि ?

निसिदिन पर-अपवाद ब्रथा कत रटि रटि राग बढ़ावहि ॥१॥

नरमुख सुन्दर मंदिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि ।

ससि समीप रहि त्यागि सुधा कत रबिकर-जल कहं धावहि ॥२॥

काम-कथा कलि-करव-चंदिनि सुनत सवन दै भावहिं ।

तिनहिं हटकि कहि हरि-कल-कीरति करन-कलंक नसावहि ॥३॥

जातरूप-मति जुगुति रुचिर मनि रचि रचि हार बनावहि ।

सरन-सुखद रबिकुल-सरोज-रवि राम नृपहिं-पहिरावहि ॥४॥

बाद-बिबाद-खाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि ।

तुलसिदास भव तरहि, तिहं पुर तू पुनीत जस पावहि ॥५॥

(१४)

जाको हरि दृढ़ करि अङ्ग कख्यो ।

सोइ सुसील पुनीत बेदविद, बिद्या-गुननि-भख्यो ॥१॥

उत्पति पांडु-तनय की करनी सुनि सतपंथ डखो ।
 ते त्रैलोक्य-पूज्य, पावन जस सुनि सुनि लोक तखो ॥२॥
 जो निज धरम वेद-बोधित-सो करत न कछु बिसखो ।
 बिनु अवगुन ककलास कूप-मज्जित कर गहि उधखो ॥३॥
 ब्रह्म-बिसिख ब्रह्मांड-दहन-छम गर्भ न नृपति जखो ।
 अजर अमर कुलिसहुं नाहिंन बध सो पुनि फेन मखो ॥४॥
 बिप्र अजामिल अरु सुरपति तें कहा जो नहिं बिगखो ।
 उनको कियो सहाय बहुत, उर को संताप हखो ॥५॥
 गनिका अरु कंदरप तें जग महं अघ न करत उबखो ।
 तिनको चरित पबित्र जानि हरि निज हृदि-भवन धखो ॥६॥
 केहि आचरन भलो मानै प्रभु सो तौ न जानि पखो ।
 तुलसिदास रघुनाथ-कृपा को जीवत पंथ खखो ॥७॥

(१५)

सोइ सुकती सुचि सांचो जाहि, राम ! तुम रीझे ।
 गनिका, गौध, बधिक हरिपुर गये, लै करसी प्रयाग कब सीझे ॥१॥
 कबहुं न डग्यो निगम-मग तें पग, नृग जग जानि जिते दुख पाये ।
 गजधौ कौन दिछित जाके सुमिरत, लै सुनाभ बाहन तजि धाये ॥२॥
 सुर सुनि बिप्र बिहाय बड़े कुल, गोकुल जनम गोपगृह लीन्हें ।
 बायों दियो बिभव कुरूपति को, भोजन जात्र बिदुर-घर कीन्हें ॥३॥
 मानत भलहि भलो भगतनि तें, कछुक रीति पारथहिं जनार्द्र ।
 तुलसी सहज सनेह राम बस, और सबै जल की चिकनार्द्र ॥४॥

वृन्दके दोहे

[वृन्द (संवत् १७३०-१८०० वि०) — ये कृष्णगढके महाराज राजसिंहके गुरु थे । इनकी भावपूर्ण कविता सुनकर लोग इनका बड़ा आदर करने लगे थे । इनके दोहे नीति-संबधी हैं । इनकी 'सतसई' बहुत प्रसिद्ध है ।]

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात ।
जैसे बरनत युद्ध में, रस शृङ्गार न सुहात ॥१॥
फीकी पै नीकी लगै, कहिये समय बिचारि ।
सब को मन हर्षित करै, ज्यों विवाह मैं गारि ॥२॥
जो जाको गुन जानही, सो तिहिं आदर देत ।
कोकिल अंबहि लेत है, काग निबौरी हेत ॥३॥
जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस ।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास ॥४॥
गुन हो तज मंगाइये, जो जीवन सुख भौन ।
आग जरावत नगर तउ, आग न आनत कौन ॥५॥
रस अनरस समझे न कछु, पढ़ै प्रेम की गाथ ।
बीछू मन्त्र न जानहीं, सांप पिटारे हाथ ॥६॥
कैसे निबहै निबल जन, कर सबलन सों गैर ।
जैसे बस सागर विषे, करत मगर सों बैर ॥७॥
दीबो अवसर को भलो, जासों सूधरै काम ।
खेती सूखे बरसिबो, घन को कौने काम ॥८॥
अपनी पहुँच विचारि कै, करतब करिये दौर ।
तेते पाँव पसारिये, जेती लांबी सौर ॥९॥

HINDI SELECTIONS

पिसुन कल्यो नर सुजन सों, करत विसास न चूकि
 जैसे दाधो दूध को, पीवत छांछहि फूँकि ॥१०॥
 विद्याधन उद्यम विना, कहौ जु पावै कौन ।
 बिना डुलाये ना मिले, ज्यां पंखा को पौन ॥११॥
 ओछे नर की प्रीति की, दीनी रीति बताय ।
 जैसे छीलर ताल जल, घटत घटत घट जाय ॥१२॥
 बुरे लगत सिख के बचन, हिये विचारो आप ।
 कारुवी भेषज विन पिये, मिटै न तन की ताप ॥१३॥
 गुरुता लघुता पुरुष की, आश्रय वशतें होय ।
 करौ हृद में विंध्य सों, दर्पन में लघु सोय ॥१४॥
 रहै समीप बड़ैन के, होत बडो हित मेल ।
 सबही जानत बढत है, हृत्त बराबर वेल ॥१५॥
 फेर न है है कपट सों, जो कीजे व्योपार ।
 जैसे हांडी काठ की, चढ़ै न दूजी बार ॥१६॥
 करिये सुख को होत दुख, यह कहौ कौन सयान ।
 वा सोने को जारिये, जासों टूटे कान ॥१७॥
 नयना देत बताय सब, हिय की हेत अहेत ।
 जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कहि देत ॥१८॥
 अति परचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय ।
 मलयगिरि की भीलनी, चंदन देति जराय ॥१९॥
 भले बुरे सब एक सों, जो लौं बोलत नाहिं ।
 जानि परतु हैं काक पिक, ऋतु वसंत के माहिं ॥२०॥
 हितह की कहिये न तिहि, जो नर होय अबोध ।
 ज्यों नकटे की आरसी, होत दिखाये क्रोध ॥२१॥

सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय ।
 पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय ॥२२॥
 कछु बसाय नहिं सबलसों, करै निबल पर जोर ।
 चले न अचल उखार तरु, डारत पवन भकोर ॥२३॥
 रोष मिटे कैसे कहत, रिस उपजावन बात ।
 ईंधन डारे आगमां, कैसे आग बुझात ॥२४॥
 जो जेहि भावे सो भलो, गुन को कछु न विचार ।
 तज गजमुक्ता भीलनी, पहिरति गुंजा हार ॥२५॥
 दुष्ट न छांड़े दुष्टता, कैसे ह्वं सुख देत ।
 धोये ह्वं सो बेर के, काजर होत न सेत ॥२६॥
 जाको जैसी उचित तिहिं, करिये सोइ बिचारि ।
 गौदर कैसे ल्याइ है, गजमुक्ता गज मारि ॥२७॥
 जैसे बंधन प्रेम को, तैसो बंध न और ।
 काठहि भेदै कमल को, छेद न निकरै भौर ॥२८॥
 जे चेतन ते क्यों तजै, जाको जासों मोह ।
 चुंबक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥२९॥
 जो पावै अति उच्च पद, ताको पतन निदान ।
 ज्यों तपि तपि मध्याह्नलों, अस्त होतु है भान ॥३०॥
 जिहि प्रसंग दूषन लगे, तजिये ताको साथ ।
 मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाथ ॥३१॥
 जाके संग दूषण दुरै, करिये तिहि पहिचानि ।
 जैसे समझे दूध सब, सुरा अहीरी पानि ॥३२॥
 मूरख गुन समझै नहीं, तौ न गुनी में चूक ।
 कहा घयो दिन को विभी, देखै जौ न उलक ॥३३॥

करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोइ ।
 रोपै बिरवा आक को, आम कहां ते होइ ॥३४॥
 बहुत निबल मिल बल करै, करै जु चाहैं सोय ।
 तिनकन की रसरी करी, करी निबन्धन होय ॥३५॥
 सांच भ्रूठ निर्णय करै, नीति निपुन जो होय ।
 राजहंस बिन को करै, छीर नीर को दोय ॥३६॥
 दोषहिं को उमहै गहै, गुन न गहै खललोक ।
 पियै रुधिर पय ना पियै, लागि पयोधर जोंक ॥३७॥
 कारज धीरे होतु है, काहे होत अधीर ।
 समय पाय तरुवर फलै, केतक सींचो नीर ॥३८॥
 क्यों कीजै ऐसो जतन, जाते काज न होय ।
 परबत पर खोदै कंआ, कैसे निकसै तोय ॥३९॥
 बीर पराक्रम ना करे, तासों डरत न कोइ ।
 बालकह को चित्र को, बाघ खिलौना होइ ॥४०॥
 उत्तम जन, सों मिलत ही, अवगुन सो गुन होय ।
 घनसंग खारो उदधि मिलि, बरसै मीठो तोय ॥४१॥
 करत करत अभ्यास के, जडमति होत सुजानि ।
 रसरी आवत जात तें, सिल पर परत निसान ॥४२॥
 भली करत लागति बिलम, बिलम न बुरे बिचार ।
 भवन बनावत दिन लगै, ढाहत लगत न बार ॥४३॥
 कुल सपूत जान्यो परै, लखि सुभ लच्छन गात ।
 होनहार बिरवान के, होत चीकने पात ॥४४॥
 छोटे मन में आय हैं, कैसे मोटी बात ।
 छेरी के मुंहमें दियौ, ज्यों पेठा न समात ॥४५॥

होत निबाह न आपनो, लीने फिरे समाज ।
 चूहा बिल न समात है, पूंछ बांधिये छाज ॥४६॥
 कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको सङ्ग ।
 पाथर डारे कीच में, उछरि बिगारै अङ्ग ॥४७॥
 ऊपर दरसै सुमिल सो, अन्तर अनमिल आंक ।
 कपटी जन की प्रीति है, खीरा की सी फांक ॥४८॥
 सब सों आगे होय कै, कबहुं न करिये बात ।
 सुधरे काज समाज फल, बिगरे गारी खात ॥४९॥
 बुरी तज लागत भली, भली ठौर पर लीन ।
 तिय नैननि नीकी लगे, काजर जदपि मलीन ॥५०॥
 क्षमा खड्ग लीने रहै, खल को कहा बसाय ।
 अगिन परी तनरहित थल, आपहि ते बुझि जाय ॥५१॥
 ओछे नर के पेटमें, रहै न मोटी बात ।
 आध सेर के पात्र में, कैसे सेर समात ॥५२॥
 बचन रचन कापुरुष के, कहे न छिन ठहराय ।
 ज्यों कर पद मुख कछुपके, निकसि निकसि दुर जाय ॥५३॥
 जूवा खेले होतु है, सुख सम्पति को नास ।
 राजकाज नल ते कुट्यो, पांडव किय बनवास ॥५४॥
 सरस्वति के भंडार की, बड़ी अपूरव बात ।
 ज्यों खरचै त्यों त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटि जात ॥५५॥
 बिरह पीर व्याकुल भए, आयो पीतम गेह ।
 जैसे आवत भाग ते, आग लगे पर मेह ॥५६॥
 भले वंस को पुरुष सो, निहुरै बहु धन पाय ।
 नवै धनुष सदवंस को, जिहिं द्वै कोटि दिखाय ॥५७॥

लोकन के अपवाद को, डर करिये दिनरेन ।
 रघुपति सीता परिहरी, सुनत रजकके बैन ॥५८॥
 कहा कहौ विधि को अविधि, भूले परे प्रवीन ।
 मूरख को सम्पति दर्ई, पंडित संपतिहीन ॥५९॥
 वह संपति केहि काम की, जिन काह पै होउ ।
 नित्य कमावै कष्ट करि, बिलसै औरहि कोउ ॥६०॥
 तनहं ते अरु तूलते, हरवो याचक आहि ।
 जानतु है कछु मांगि है, पवन उड़ावत नाहिं ॥६१॥
 सेइय नृप गुरु तिय अनिल, मध्य भाग जग माहिं ।
 है विनाश अति निकट तें, दूर रहे फल नाहिं ॥६२॥

नीति-सामयिक उपदेश

कुण्डलियाँ

[गिरिधर कविराय (संवत् १७७०-लगभग १८४४ वि०)—इनकी कुंडालियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रायः सभी नीति-विषयक हैं तथा बड़ी ही लोकप्रिय हैं। इनकी कविताकी भाषा सरल और स्पष्ट है। इनकी भाषासे इनका जन्मस्थान कहाँ अश्वमे होनेका अनुमान किया जाता है, पर इनके जीवनके विषयमें कुछ भी नहीं जाना जाता। कहा जाता है कि राजासे रुष्ट होकर ये उनके राज्यमें न रहने की इच्छासे अपना घरद्वार छोड़ भ्रमण करने लगे। उसी भ्रमणके समय कुंडलियोंकी रचना की। कहते हैं कि स्त्री-पुरुषने मिलकर रचना की थी और जिन कुंडलियोंके प्रारम्भमें 'साई' शब्द है, वे सब गिरिधरकी स्त्रीकी रची हुई हैं।]

बिना विचारै जो करै, सो पाछे पछिताय ।
 काम बिगारै आपनो, जग में होत हंसाय ॥
 जग में होत हंसाय, चित्त में चैन न पावै ।
 खान पान सनमान, राग रंग मनहिं न भावै ॥
 कह गिरिधर कविराय, दुःख कछु टरत न टारे ।
 खटकत है जिय माहिं, कियो जो बिना विचारै ॥१॥

बीती ताहि बिसारिदे, आगे की सुधि लेउ ।
 जो बनि आवै सहज में, ताही में चित देउ ॥
 ताही में चित देउ, बात ज्योंहीं बनि आवै ।
 दुर्जन हंसै न कोय, चित्त में खेद न पावै ॥
 कह गिरिधर कविराय, यही कर मन परतीती ।
 आगे को सुख होय, समझ बीती सो बीती ॥२॥

सार्द्धं ये न विरुद्धिये, गुरु पण्डित कवि यार ।
 बेटा वनिता पौरिया, यज्ञ करावनहार ॥
 यज्ञ करावनहार, राजमन्त्री जो होई ।
 विप्र परोसी बैद, आपको तपै रसोई ॥
 कह गिरिधर कविराय, यहै कैसी समुभाई ।
 इन तेरह ते तरह, दिये बनि आवै सार्द्धं ॥३॥

सार्द्धं अपने चित्त की, भूल न कहिये कोय ।
 तब लग मन में राखिये, जब लग कारज होय ॥
 जब लग कारज होय, भूल कबहूँ नहिं कहिये ।
 दुर्जन तातो होय, आप सीरे है रहिये ॥

कह गिरिधर कविराय, बात चतुरन के तार्ई ।
करतूती कहि देत, आप कहिये नहिं सार्ई ॥४॥

चिंताज्वाल शरीरबन, दावा लगि लगि जाय ।
प्रकट धुवां नहिं देखिये, उर अन्तर धुंधुवाय ॥
उर अंतर धुंधुवाय, जर ज्यों कांच की भट्टी ।
जर गयो लोह मांस, रह गई ह्वाड़ की ठट्टी ॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो रे मेरे मिंता ।
वे नर कैसे जियें, जाहि तन व्यापत चिंता ॥५॥

राजा के दरबार में, जैये समयो पाय ।
सार्ई तहां न बैठिये, जहं कोउ देय उठाय ॥
जहं कोउ देय उठाय, बोल अनबोले रहिये ।
हंसिये ना हंहराय, बात पूंछेते कहिये ॥
कह गिरिधर कविराय, समय सों कीजै काजा ।
अति आतुर नहिं होय, बहुरि अनखै हैं राजा ॥६॥

कृतघन कबहुं न मानहीं, कोटि करौ जो कोय ।
सर्वस आगे राखिये, तऊ न अपनो होय ॥
तऊ न अपनो होय, भले की भली न मानै ।
काम काढ़ि चुप रहै, फिर तेहि नाहिं पिछानै ॥
कह गिरिधर कविराय, रहत नितही निर्भय मन ।
मित्र शत्रु सब एक, दाम के लालच कृतघन ॥७॥

जाकी धन धरती लई, ताहि न लीजै संग ।
जो संग राखे ही बनै, तौ करि राख अपंग ॥

तौ करि राख अपंग, फेरि फरकौ सो न कीजै ।
 कपट रूप बतराय, ताहि को मनहर लीजै ॥
 कह गिरिधर कविराय, खटक जैहै नहिं ताकी ।
 कोटि दिलासा देउ, लई धन धरती जाकी ॥८॥

सार्दै अपने भ्रात को, कबहुं न दीजै त्रास ।
 पलक दूर नहिं कीजिये, सदा राखिये पास ॥
 सदा राखिये पास; त्रास कबहुं नहिं दीजै ।
 त्रास दियो लंकेश, तासु की गति सुनि लीजै ॥
 कह गिरिधर कविराय, राम सों मिलियो सार्दै ।
 पाय विभीषण राज, लंकपति बाज्यो सार्दै ॥९॥

सार्दै बेटा बाप के, बिगरे भयो अकाज ।
 हरिनाकुश अरु कंस को, गयो दुहुन को राज ॥
 गयो दुहुन को राज, बाप बेटा के बिगरे ।
 दुसमन दावादार, भये महिमण्डल सिगरे ॥
 कह गिरिधर कविराय, उन्हें काहू न बताई ।
 पिता पुत्रकी रारि, लाभ एकी नहिं सार्दै ॥१०॥

सार्दै नदी समुद्र को, मिली बड़पनी जानि ।
 जातिनाश भयो मिलतही, मान महत की हानि ॥
 मान महतकी हानि, कहौ अब कैसे कीजै ।
 जल खारी है गयो, ताहि अब कैसे पीजै ॥
 कह गिरिधर कविराय, कच्छमच्छन सकुचाई ।
 बड़ी फर्जीहतचार, भयो नदियन को सार्दै ॥११॥

सार्ई' सन अरु दुष्ट जन, इनको यही सुभाव ।
 खाल खिंचावैं आपनी, परबन्धन के दाव ॥
 परबन्धन के दाव, खाल अपनी खिंचवावैं ।
 मुण्ड काटि के कुटिय, तऊ पर बाज न आवैं ॥
 कह गिरिधर कविराय, जरे अपनी कुटिलाई ।
 जल में गिरि सड गये, तऊ छोड़ी न खुटाई ॥१२॥

सार्ई' समय न चूकिये, यथाशक्ति सनुमान ।
 को जानै को आइहै, तेरी पौरि प्रमान ॥
 तेरी पौरि प्रमान, समय असमय तकि आवै ।
 ताको तू मत खोल, अंक भरि कण्ठ लगावै ॥
 कह गिरिधर कविराय, सबै यामें सधिआई ।
 शीतल जल फल फूल, समय जिन चूको सार्ई' ॥१३॥

सार्ई' हरि ऐसी करी, बलि के हारे जाय ।
 पहिले हाथ पसारिकै, बहुरि पसारे पाय ॥
 बहुरि पसारे पाय, मनो राजा न बतायो ।
 भूमि सबै हरि लई, बाधि पाताल पठायो ॥
 कह गिरिधर कविराय, राव राजन के तार्ई' ।
 छल बल करि परभूमि, लेत को लसगो मारई' ॥१४॥

सार्ई' अगर उजार में, जरत महा पछिताय ।
 गुनगाहक कोऊ नहीं, जाहि सुबास सुहाय ॥
 जाहि सुबास सुहाय, सुने बनमें कोउ नाहीं ।
 कै गीदड़ कै हिरन, सुतो कछु जानत नाहीं ॥

कह गिरिधर कविराय, बड़ो दुख यहै गुसाईं ।
अगर आक की राख, भई मिलि एकै साईं ॥१५॥

साईं हंस न आवहीं, विन जल सरवर पास ।
निरफल तरवर ते डरैं, पक्षी पथिक उदास ॥
पक्षी पथिक उदास, छांह विश्राम न पावैं ।
जहं न प्रफुल्लित कमल, भ्रमर तहं भूलि न आवैं ॥
कह गिरिधर कविराय, जहां यह बूझ बड़ाई ।
तहां न करिये सांभ, प्रातही चलिये ॥

साईं एकै गिरि धरे, गिरिधर गिरिधर होय ।
हनूमान बहु गिरि धरे, गिरिधर कहै न कोय ॥
गिरिधर कहै न कोय, हनू धवलागिरि लायो ।
ताको किनका टूटि, पखो सो कृष्ण उठायो ॥
कह गिरिधर कविराय, बड़न की बड़ी बड़ाई ।
थोरैही जस होय, जसी पुरुषन को साईं ॥१७॥

भौरा ये दिन कठिन हैं, दुख सुख सहौ शरीर ।
जब लग फूलै केतकी, तब लगि बिरम करीर ॥
तब लगि बिरम करीर, हर्ष मन में नहिं कीजै ।
जैसी बहै बयार, पीठ तब तैसी दीजै ॥
कह गिरिधर कविराय, होय जिन जिन में बीरा ॥
सहै दुःख अरु सुख, एक सज्जन अरु भौरा ॥१८॥

पानी बाढ़यो नाव में, घर में बाढ़यो दाम ।
दोज हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥

यही सयानो काम, नाम ईश्वर को लीजै ।
 पर स्वारथ के काज, सीस आगे धरि दीजै ॥
 कह गिरिधर कविराय, बड़ेन की याही बानी ।
 चलिये चाल सुचाल, राखिये अपनो पानी ॥१८॥

गुन के गाहक सहस नर, बिनु गुन लहै न कोय ।
 जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय ॥
 शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन ।
 दोऊ को डूक रंग, काग सब भये अपावन ॥
 कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के ।
 बिनु गुन लहै न कोय, सहस नर गाहक गुन के ॥२०॥

दौलत पाय न कीजिए, सपने में अभिमान ।
 चंचल जल दिन चारि को, ठांड न रहत निदान ॥
 ठांड न रहत निदान, जियत जग में जस लीजै ।
 मीठे वचन सुनाय, विनय सबही की कीजै ॥
 कह गिरिधर कविराय, अरे यह सब घट तौलत ।
 पाहुन निसि दिन चारि, रहत सबही के दौलत ॥२१॥

साईं ऐसे पुत्र से, बांझ रहै बरु नारि ।
 बिगरी बेटे बाप से, जाय रहै ससुरारि ॥
 जाय रहै ससुरारि, नारि के नाम बिकाने ।
 कुल के धर्म नसायं, और परिवार नसाने ॥
 कह गिरिधर कविराय, मातु भांखै वहि ठाई ।
 अस पुत्रनि नहिं होयं, बांझ रहतिउं बरु साईं ॥२२॥

साईं' या संसार में, मतलब को व्यौहार ।
 जब लगि पैसा गांठि में, तब लगि ताको यार ॥
 तब लगि ताको यार, यार संगही संग डोलै ।
 पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलै ॥
 कह गिरिधर कविराय, जगत यह लेखा भाई ।
 करत वेगरजी प्रीति, यार बिरला कोइ साईं' ॥२३॥

साईं' अवसर के पड़े, को न सहै दुख द्वन्द ।
 जाय बिकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द ॥
 वै राजा हरिचन्द, करै मरघट रखवारी ।
 धरे तपस्वी वेष, फिरै अर्जुन बलधारी ॥
 कह गिरिधर कविराय, तपै वह भीम रसोई ।
 को न करै घटि काम, परे अवसर के साईं' ॥२४॥

सयंक-सहिमा

[प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' (संवत् १९१२-१९८० वि०)—ये भारतेन्दुजीके सखा थे । संस्कृत, हिन्दी और फारसीके अच्छे पण्डित थे । ये रसिक कवि थे । इनकी प्रतिभापूर्ण उच्च कोटिकी कवित्व-शक्ति सभी स्वीकार करते हैं । 'कवि-वचन-सुधा', 'आनन्द-कादम्बिनी' तथा 'नागरी-नीरद' में इनकी कविताएं प्रकाशित होती थीं । सन् १९१२में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका अधिवेशन कलकत्तामें हुआ था और ये उसके सभापति हुए थे ।]

चतुर चकोर चारु लोचन कर अचल देखता चाह-भरे ।
 उसे उच्चतर प्रेम दिखाता भाता धीरज धीर धरे ॥

निज प्रिय-मुख-मंडल-सुमाधुरी मंजु अमृत-रस पीता है ।
 औरों पर आंखें न उठाता देख उसी को जीता है ॥
 अतिशय अनुपम प्रेम-पात्र भी पाया है उसने ऐसा ।
 इस विरंचि-रचना विशाल में और नहीं कोई जैसा ॥
 वाह-वाह क्या शोभा है जो कही न कछु भी है जाती ।
 ज्यों-ज्यों उसे देखिए, त्यों-त्यों नई छटा है छहराती ॥
 मेचक चिकुर-पुञ्ज रजनी के मध्य मंजु मन भाता है ।
 रमा-रुचिर विधु-वदन चांदनी मिस मानों मुसकाता है ।
 जिसका चारु चकोर चक्रधर चकित लालची लोचन से—
 निहारता, हारता सदा मन रहता है भोलेपन से ॥
 अथवा, गगन-सरोवर, नील-सलिल-पूरित पर फूला है ।
 सित सहस्रदल अमल कमल बनकर मन मधुकर भूला है ॥
 जिसकी केसर सरस कौमुदी जग कमनीय बनाती है ।
 शुभ सुगंध-सन्मिलित सुधा मकरंद-बिन्दु बरसाती है ॥
 या यह अम्बर-उदधि बीच उतराया, क्या मन भाया है ।
 उज्ज्वल उपल महान खंड मंडलाकार छवि-छाया है ॥
 तिमिर मत्त मातंग मार या सिंह उसी पर बैठा है ।
 मरौचिमाली सटा छटा छहराता गर्वित ऐंठा है ॥
 अथवा क्या आकाश-माठ में मथित हुआ उतराया है ।
 मञ्जुल मक्खन-पिंड स्रच्छ सबकी मनको ललचाया है ॥
 प्रकृति-देवि-छवि-दर्शक दर्पण गोल अलौकिक भारी है ।
 या यह पूरित प्रभा दिखाता भाता जगती सारी है ॥
 रमनारम्य व्योम-उद्यान बीच या विकसित भाया है ।
 सुन्दर सूर्यमुखी कमनीय कुसुम क्या यह रंग लाया है ॥

अथवा आदि अखण्ड पिण्ड ब्रह्मांड मनोहर दिखलाता ।
 फिर भी है जगदीश आज निज माया-महिमा प्रगटाता ॥
 या यह थाल रजत मन्मथ महीप का जिला कराया है ।
 रस शृङ्गार-सार जिसमें भर जग को सरस बनाया है ॥
 या कलधौत कलश पूरित पीयूष धरा सा भाता है ।
 या भारत हृदयेश सुयश सम्पुट-नभ पहुँच सुहाता है ॥
 अथवा किसी देव-शिशु ने क्या गोली गुड़ी उड़ाई है ।
 प्रभामयी जगदीठ खींचकर जिसने पास बुलाई है ॥

रंक-रोदन

[पं० नाथूराम शर्मा (संवत् १९१६-१९२० वि०)—ये हरदुआ गंज जिला अलीगढ़ के रहनेवाले गौड ब्राह्मण थे । हिन्दीके अच्छे कवियोंमें इनकी गणना है । इनकी कविताएँ खड़ीबोली के प्रेमियोंके लिये बड़े आदरकी वस्तु हैं । समस्यापूर्तिमें ये दूँबड़े सिद्धहस्त थे । ये उमें भी कविता करते थे ।]

क्या शंकर प्रतिकूल काल का अंत न होगा ?

क्या मंगल से मेल मृत्युपर्यन्त न होगा ?

क्या अनुभूत दरिद्र-दुःख अब दूर न होगा ?

क्या दाहक-दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा ? ॥१॥

होकर मालामाल पिता ने नाम किया था ।

मैंने उनके साथ न घर का काम किया था ॥

विद्या का भरपूर अटल अभ्यास किया था ।

पर औरों की भांति न कुछ भी पास किया था ॥२॥

उद्यम की दिनरात कमान चढ़ी रहती थी ।
 यश के शिर पर वर्ण-उपाधि मढ़ी रहती थी ॥
 दान-मान की ज्योति अखंड जगी रहती थी ।
 भिखमंगों की भीड़ सदैव लगी रहती थी ॥३॥

जीवन का फल पूज्य पिता जी पाय चुके थे ।
 कर पूरे सब काम कुलीन कहाय चुके थे ॥
 सुन्दर स्वर्ग समान विलास बिसार चुके थे ।
 हम सब उनका अंत अनंत निहार चुके थे ॥४॥

बांध बाप की पाग बना सुखिया घर का मैं ।
 केवल परमाधार रहा कुनवे भर का मैं ॥
 सुख से पहिली भांति निरंकुश रहता था मैं ।
 क्या करता है कौन, न कु छभी कहता था मैं ॥५॥

जिनका संचित कोश खिलाया-खाया मैंने ।
 करके उनकी छोड़ न द्रव्य कमाया मैंने ॥
 लट रहे थे लोग, न छल पहचाना मैंने ।
 घाटे का परिणाम कठोर न जाना मैंने ॥६॥

बिगड़े चाकर चोर पुरानी बान बिगाड़ी ।
 दिया दिवाला काढ़, बनी दूकान बिगाड़ी ॥
 आधे दाम चुकाय बड़ों की बात बिगाड़ी ।
 मुझ से किया बिगाड़, न अपनी घात बिगाड़ी ॥७॥

अटके डिगरीदार, किसी ने दाम न छोड़े ।
 छीन लिये धन-धाम-ग्राम, आराम न छोड़े ॥
 हाय ! किसी के पास विभूषण-वस्त्र न छोड़े ।
 नाम रहा निरुपाधि, पुलिस ने शस्त्र न छोड़े ॥८॥

न्यायालय में जाय दरिद्र कहाय चुका हूँ ॥
 सब ट्रेकर 'इनसालवेंट' पद पाय चुका हूँ ।
 अपने घर की आप विभूति उड़ाय चुका हूँ ॥
 सर्वनाश से हाय न पिंड कुड़ाय चुका हूँ ॥९॥

बैठ रहे सुख मोड़ पुराने आनेवाले ।
 लेते नहीं प्रणाम लूट कर खानेवाले ॥
 देते हैं दुर्वाद बड़ाई करनेवाले ।
 लड़ते हैं बिन बात अड़ी पर मरनेवाले ॥१०॥

कविता-प्रेमी लोग न अब 'सत्कवि' कहते हैं ।
 हा ! न-विद्व विज्ञान-गगन का रवि कहते हैं ॥
 धर्मधुरंधर धीर नहीं गुरुजन कहते हैं ।
 सुभ को सब कङ्गल-धनी निर्धन कहते हैं ॥११॥

वित्त बिना विख्यात विरद विपरीत हुआ है ।
 मन मेरा निश्चिंक महा भयभीत हुआ है ॥
 कांगाली की मार पड़ी, रस भङ्ग हुआ है ।
 जीवन का मग हाय विधाता ! तङ्ग हुआ है ॥१२॥

प्रतिभा को प्रतिवाद प्रचंड लताड चुका है ।

आदर को अपमान पिशाच पछाड़ चुका है ॥

पौरुष का शिर नीच निरुद्यम फोड़ चुका है ।

हाय ! हर्ष का रक्त विषाद निचोड़ चुका है ॥१३॥

दरसे देश उदास, जाति अनुकूल नहीं है ।

शत्रु करें उपहास, मित्र सुखमूल नहीं है ॥

छूटे नातेदार, किसी से मेल नहीं है ।

घर में हाहाकार खुशी का खेल नहीं है ॥१४॥

मङ्गल को रिपु घोर अमङ्गल घेर रहा है ।

क्रास-त्रास के बीज विनाश बखेर रहा है ॥

दौन मलीन कुटुंब कर्म को कोस रहा है ।

मेरा कण्ठ अदम्य दरिद्र मसोस रहा है ॥१५॥

दुखड़ों की भरमार, यहां सुखसाज नहीं है ।

किसका गोरस-भात, पिसान अनाज नहीं है ॥

चिथड़ा भी भरपूर किसी के पास नहीं है ।

कुनवे भर में कौन अधीर उदास नहीं है ॥१६॥

बालक चोखे खान-पान पर अड़ जाते हैं ।

खेल-खिलौने देख पिछाड़ी पड़ जाते हैं ।

पर मनमानी वस्तु बिना बस रह जाते हैं ।

हाय ! हमारे काढ कलेजे सो जाते हैं ॥१७॥

सिर से संकट-भार उतार न लेगा कोई ।
 मुझको एक छदाम उधार न देगा कोई ॥
 करुणा कर कुलवीर कृपा न करेगा कोई ।
 हम दीनों का पेट न हाथ भरिगा कोई ॥१८॥

फल-फलकर फूल फली फल खानेवाले ।
 नाना व्यंजन पाक प्रसादी पानेवाले ॥
 दूध रसाला आदि सुधारस पीनेवाले ।
 हाथ ! बने हम शाक-चनों पर जीनेवाले ॥१९॥

घर में कुरते कोट सलूके सिल जाते हैं ।
 बाहर से दो-चार टके बस मिल जाते हैं ॥
 जो कुछ पैसे हाथ हमारे आ जाते हैं ।
 उन सब का सामान मंगाकर खा जाते हैं ॥२०॥

लड़के लकड़ी बीन-बीनकर ला देते हैं ।
 ईंधन भर का काम अवश्य चला देते हैं ॥
 बूझ चचा दो-तीन बार जल भर देते हैं ।
 मांग-मांगकर छाछ महेरी कर देते हैं ॥२१॥

छप्पर में बिन बांस घुने ऐरंड पड़े हैं ।
 बरतन का क्या काम, घने घटखंड पड़े हैं ॥ -
 खाट कहां, छै-सात फटे-से टाट पड़े हैं ।
 चक्की पीसे कौन, बिना भिड़ पाट पड़े हैं ॥२२॥

जाड़े का प्रतियोग, न उष्ण-विलास मिलेगा ।
 गरमी का प्रतिकार न शीतल वास मिलेगा ॥
 घेर रही बरसात, न सूखा ठौर मिलेगा ।
 इस खंडहर को छोड़ कहां घर और मिलेगा ॥२३॥

कर-कर केहरि-नाद बलाहक बरस रहे है ।
 अस्थिर विद्युदृश्य दसों दिस दरस रहे हैं ॥
 गंदला पानी छेद छत्त के छोड़ रहे है ।
 इन्द्रदेवजी टांग त्राण की तोड़ रहे हैं ॥२४॥

दिया जले किस भांति, तेल को दाम नहीं है ।
 काटें मच्छर डांस, कहीं आराम नहीं है ॥
 टट पड़े दीवार, यहां संदेह नहीं है ।
 करदे पनियाढार, नहीं तो मेह नहीं है ॥२५॥

बीत गई अब रात, अंधेरा दूर हुआ है ।
 संकट का कुल हाय न चकनाचूर हुआ है ॥
 आज तीसरा रुद्ररूप उपवास हुआ है ।
 हा ! हम सब का घोर नरक में वास हुआ है ॥२६॥

हिन्दूपन के पंथ-मतों में मेल नहीं है ।
 सत्य सनातनधर्म कपट का खेल नहीं है ॥
 शिष्टों का सत्कार कहीं अवशिष्ट नहीं है ।
 धोखा देकर माल उठाना द्रष्ट नहीं है ॥२७॥

वैदिक दल में दान-मान कुछ भी न मिलेगा ।

प्रतिदिन तीन छटांक हवन को घी न मिलेगा ॥

कर्महीनता देख पुण्य-परिषद् न मिलेगा ।

रोटी-दाल समेत 'महाशय' पद न मिलेगा ॥२८॥

सामाजिक बल पाय फूल-सा खिल सकता है ।

योग-समाधि लगाय ब्रह्म से मिल सकता है ॥

धर्म धार संसार-सिंधु से तर सकता है ।

हा ! पर वस्त्राहार बिना क्या कर सकता है ॥२९॥

जो जगती पर बीज पाप के बो न सकेगा ।

जिसका साहस सत्य धर्म को खो न सकेगा ॥

जो विधि के विपरीत कभी कुछ कर न सकेगा ।

रो-रोकर वह रंक कहां तक मर न सकेगा ॥३०॥

जगत सचार्द्र सार

[पं० श्रीधर पाठक (संवत् १९१६-१९८६ वि०)—ये सस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू और अंगरेजी भाषाके विज्ञान थे । ये ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनोंमें कविता लिखनेमें बड़े निपुण थे, और आधुनिक समयके श्रेष्ठ कवि माने जाते थे ।]

कहो न प्यारे मुझसे ऐसा—“भूठा है यह सब संसार ।

थोथा भूगड़ा, जी का रगड़ा, केवल दुखका हेतु अपार” ॥

माना हमने वस्तु जगतकी नाशवान हैं निस्सन्देह ।
 फिर भी तो छोड़ा नहिं जाता, पलभर को भी उनसे नेह ॥
 लगा हुआ है वस्तु मात्र का एक दूसरे से सम्बन्ध ।
 दूषित क्योंकर हो सक्ता है उस कर्त्ता का अटल प्रबन्ध ?
 जगत है सच्चा, तनक न कच्चा, समझो बच्चा इस्का भेद ।
 पौत्रो खाओ, सब सुख पाओ, कभी न लाओ मनमें खेद ॥
 “मिट्टी उढ़ौना, मिट्टी बिछौना” मिट्टी दाना पानी है ।
 मिट्टी ही तन बदन हमारा, सो सब ठीक कहानी है ॥
 पर जो उलटा समझके इस्को, बने आपही ज्ञानी है ।
 मिट्टी करता है जीवन को, और बड़ा अज्ञानी है ॥
 मिट्टी क्या है सोचो तो टुक अकल लडाके प्यारे मित्र ।
 पञ्च महाभूतों में धसके, देखो इसकी बात विचित्र ॥
 परम पवित्र पावनी पृथ्वी, भरी सकल सुघराई से ।
 पद पद पर शोभा से छाई, ईश्वर की चतुराई से ॥
 अति अमोल रत्नों की जननी, सब द्रव्यों की माता है ।
 सदा सुधा रस भरी, खरी, यह सब प्रकार सुखदाता है ॥
 सब जीवों की भौतिक काया इसी पोषण पाती है ।
 जीव से नाता कुट जाने पर इसी में वह मिल जाती है ॥
 तुम से, पृथ्वी से, मिट्टी से, है बस इतना ही सम्बन्ध ।
 काम तुम्हारे आती है वह, सुन्दर यह प्राकृतिक निबन्ध ॥
 समझ के सारे जगत को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है ।
 मिट्टी करके सर्वस अपना, मिट्टी में मिल जाता है ॥
 कभी नहीं ऐसा मूरख नर सार सृष्टि का पाता है ।
 जैसा ही आया था जगमें वैसा ही वह जाता है ॥

इस शरीर से जो मनुष्य नहीं कुछ भी लाभ उठाता है ।
 उससे तो वह पशु भला जो काम सैकड़ों आता है ॥
 उसका जन्म व्यर्थ है जो नर पौरुष कुछ न दिखाता है ।
 न इसलोक, ना उसी लोक में हाथ उसे कुछ आता है ॥
 ऐसा कायर तो पृथ्वी को वृथा भार पहुँचाता है ।
 अपना जीना ही जिसको एक बड़ा बोझा हो जाता है ॥
 जो तन मन से करता है श्रम, उचित रीति से चलता है ।
 सारी वसुधा का क्रम क्रम से, सर्वस उसको मिलता है ॥
 हाथ, पैर और नाक, कान, बुद्धि से काम जो लेता है ।
 जीवन का सुख पाता है वह, औरों को सुख देता है ॥
 पुत्र, कलत्र, मित्र, बान्धव में फैला कर सच्चा आनन्द ।
 काम जगत का करता है वह, रहता है सुख से स्वच्छन्द ॥
 दुख कब ऐसे पुरुष सिंह के पास फटकने पाता है ।
 वह तो आलस का साथी है, आलसियों पर जाता है ॥
 जब तक तुम इस जग में सच्ची धर्मरीति पर चलते हो ।
 तब तक निस्सन्देह निरन्तर सब बातों में फलते हो ॥
 सारा सांसारिक सुख पाकर ईश्वर को पहिचानो ही ।
 उसकी विद्यमानता, सत्ता, वस्तु मात्र में जानो ही ॥
 रचा उसीका है जब यह जग निश्चय उसको प्यारा है ।
 इसमें दोष लगाना अपने लिये दोष का द्वारा है ॥
 ध्यान लगा के जो देखो तुम सृष्टी-की सुधराई को ।
 बात बात में पाओगे उस ईश्वर की चतुराई को ॥
 ये सब भांति भांति के पक्षी ये सब रंग रंग के फूल ।
 ये बनकी लहलही लता नव ललित ललित शोभा की मूल ॥

ये नदियां ये भील सरोवर, कमलां पर भौरों की गुञ्ज ।
 बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृत्तों की कुञ्ज ॥
 ये पर्वत की रम्यशिखा और शोभा सहित चढ़ाव उतार ।
 निर्मल जल के सोते भरने, सीमारहित महा विस्तार ॥
 छै प्रकार की ऋतु का होना नित नवीन शोभा के संग ।
 पाकर काल बनस्पति फलना, रूप बदलना रंग विरंग ॥
 चांद सूर्य की शोभा अद्भुत, बारी से आना दिन रात ।
 त्यों अनन्त तारा मण्डल से सज जाना रजनी का गात ॥
 यह समुद्र का पृथ्वी तल पर छाया जो जलमय विस्तार ।
 उसमें से मेघों के मंडल हों अनन्त उत्पन्न अपार ॥
 तर्जन गर्जन घन मण्डल की बिजली वर्षा का सञ्चार ।
 जिस्में दीखै परमेश्वर की लीला अद्भुत अपरम्पार ॥
 उस कारीगर ने कैसा यह सुन्दर चित्र बनाया है ।
 कहीं पै जलमय कहीं रेतमय, “कहीं धूप कहीं छाया है” ॥
 विविध रूप का अनोखा अचरज जिस्के बीच समाया है ।
 कोई कहता “कुदरत” जिसकी कोई कहता “माया” है ॥
 पांच बजे तड़के उठते जिस दम दम न्हाते धोते हैं ।
 आधी रात होने से उस दम लण्डन वाली सोते हैं ॥
 यहां जिन दिनों गर्मी से सब के घर पंखे चलते हैं ।
 आस्ट्रेलिया वालों के घरमें गरम कोयले जलते हैं ॥
 इस प्रकार के दृश्य अनेकों दृष्टि नित्य जब आते हैं ।
 अचरज युक्त अनुपम अनुभव वे मन में उपजाते हैं ॥
 इन सब के कारण से होता नहीं है किस्के मन को सुख ।
 भला किसी को बताइये तो पहुँचा है इनसे कुछ दुख ?

सब स्वभाव के मनुष्य जिन्को सदा प्रशंसा गाते हैं ॥
 जोगी, जती, विरक्त, उदासी भी उत्तम बतलाते हैं ॥
 जो नेत्रों से दिखाई देता, कानों से सुन पड़ता है ।
 जिस्को चित्त ग्रहण करता है जिस्से कुछ न बिगड़ता है ॥
 सत् पुरुषों ने जिस्को बारम्बार पुकारा अच्छा है ।
 जो वो ही नहिं सच्चा है तो भला और क्या सच्चा है ? ॥
 जिस्का यह सब रचा हुआ है, वह परमेश्वर सच्चा है ।
 जगत के सच्चे होने का मत क्यों करके तब कच्चा है ? ॥
 जो सच्चा है, वह प्यारा है, वही सकल सुख का भंडार ।
 वही मनुष्यों के जीवन को देता है आनन्द अपार ॥
 जगत को झूठा झूठा कहके करो नहीं उसका अपमान ।
 बुद्धि को अपने काम में लाओ, हे मनुष्य हे बुद्धिनिधान ॥
 जिस्को तुम जानो यह दुख है सहो उसे धीरज के साथ ।
 दुख में सुख का अनुभव करना, है मनुष्य को अपने हाथ ॥
 दुख तो मनुष्य के जीवन की एक कसीटी है मानो ।
 इसमें जैसा रहे रंग, वैसा ही भाव उसका जानो ॥
 काम क्रोध और लोभ मोह भी जीवनके सहयोगी हैं ।
 इनके वश में जो पड़ता है उसी के ये प्रतियोगी हैं ॥
 इनको जो अपने मन से जड़ मूल मिटाना चाहै हैं ।
 वे असमर्थ कभी न जगत का सत उद्देश्य निबाहै हैं ॥
 जैसा यह जग बना हुआ है वैसा इस्को पहचानो ।
 ईश्वर की व्यापकता इस्में सभी ठौर प्यारे जानो ॥
 देख देख उसकी महिमा, गुण निशि वासर उसके गाओ ।
 अर्थ धर्म और काम मोक्ष पाने में पौरुष दिखलाओ ॥

रूप जगत का यथार्थ देखो, पडो मूल में कभी न तुम ।
 जीवन के कर्तव्य नि बाहो, समझ के उसके शुद्ध नियम ॥
 चलोगे सच्चे मनसे जो तुम निर्मल नियमों के अनुसार ।
 तो अवश्य प्यारे जानोगे सारा जगत मचाई सार ॥

प्रिय प्रवास

[पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संवत् १९२२—वर्तमान)—इनका हिन्दीकी प्रति अगाध प्रेम है। संस्कृत, बंगला और फारसीमें भी ये अच्छी योग्यता रखते हैं। इन्होंने जीवनभर हिन्दीकी जो सेवा की है वह सराहनीय है। इन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनोंमें कविताएं लिखी हैं और दोनोंपर इनका समान रूपसे अधिकार है। ये जैसे प्रवीण गद्यलेखक हैं वैसे ही सुकवि भी। आजकल ये अवैतनिकरूपसे हिन्दू-विश्वविद्यालयमें हिन्दी-अध्यापक हैं। कवितामें इनका उपनाम 'हरिऔध' है।]

प्रथम सर्ग

दिवस का अवसान समीप था ।

गगन था कुछ लोहित हो चला ।

तरु-शिखा पर थी अब राजती ।

कमलिनी कुल-बल्लभ की प्रभा ॥१॥

विपिन बीच बिहंगम-वृन्द का ।

कल-निनाद समुत्थित था हुआ ।

ध्वनिमयी-बिबिधा-बिहगावली ।

उड़ रही नभ-मण्डल मध्य थी ॥२॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा ।
 दश-दिशा अनुरंजित हो गई ।
 सकल-पादप-पुंज हरीतिमा ।
 अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई ॥३॥

भलकने प्रति-केलि-थली लगी ।
 गगन के तलकी यह लालिमा ।
 सरित औ सर के जल में पड़ी ।
 अरुणता अतिही रमणीय थी ॥४॥

अचल-शृंग-समुन्नत जा चढ़ी ।
 किरण पादप-शीश बिहारिणी ।
 तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला ।
 गगन पश्चिम मध्य शनैः शनैः ॥५॥

ध्वनि-मयी कर के गिरि-कन्दरा ।
 कलित-कानन कुंज निकुंज को ।
 कणित एक हुआ बर-बेणु भी ।
रविसुता कल-कूल इसी समै ॥६॥

बज उठे सु-विषाण अनेकशः ।
 रणित शृंग हुए बहु साथ ही ।
 फिर समाहित-प्रान्तर-भाग में ।
 श्रुत हुआ स्वर धावित-धेनु का ॥७॥

कियत कालहिं में बन-बीथिका ।
 बिबिध-धेनु बिभूषित हो गई ।
 धवल-धूसर-बत्स-समूह भी ।
 समुद था जिन के संग सोहता ॥८॥

जब हुई समवेत शनैः शनैः ।
 सहित गो-गण मण्डलि-ग्वाल की ।
 तब चली ब्रज-भूषण को लिये ।
 वह अलंकृत-गोकुल-ग्राम को ॥९॥

गगन के तल गोरज छा गई ।
 दश-दिशा बहु शब्दमयी हुई ।
 विशद-गोकुल के प्रति-गेह में ।
 वह चला बैर-श्रोत बिनोद का ॥१०॥

दिन-समस्त समाकुल से रहे ।
 सकल-मानव गोकुल-ग्राम के ।
 अब दिनान्त बिलोकत ही बढ़ी ।
 ब्रज-बिभूषण दर्शन-लालसा ॥११॥

श्रुत हुआ स्वर ज्यों कल-बेणु का ।
 सकल-ग्राम समुत्सुक ही उठा ।
 हृदय-यंत्र निनादित हो गया ।
 तुरत ही अनियंत्रित भाव से ॥१२॥

वय-वती युवती बहु-बालिका ।

सकल-बालक वृद्ध वयस्क भी ।

विवश से निकले निज गेह से ।

खट्वा का दुख मोचन के लिये ॥१३॥

इधर गोकुल से जनता कढ़ी ।

उभगती अति आनंद में पगी ।

उधर आ पहुँची बल बौर की ।

विपुल-धेनु-विमंडित-मण्डली ॥१४॥

ककुभ-शोभित गोरज बीच से ।

निकलते ब्रज-वल्लभ यों लसे ।

कादन ज्यों कर के दिशि-कालिमा ।

कमलिनी-पति है नभ राजता ॥१५॥

अतसि-पुष्प अलंकृतकारिणी ।

सुखवि नील-सरोरुह वर्द्धिनी ।

नवल-सुन्दर-श्याम-शरीर की ।

सजल-नीरद सी कल-कान्ति थी ॥१६॥

अति-समुत्तम अंग-समूह था ।

मुकुर-मंजुल औ मनभावना ।

सतत थी जिस में सुकुमारता ।

सरसता प्रतिविम्बित हो रही ॥१७॥

बिलसता कटि में पट-पीत था ।

बसन-सुन्दर था तन सोहता ।

उर लसी बनमाल-बिचित्र थी ।

कलित-कांध मनोज्ञ-दुकूल था ॥१८॥

मकर-केतन के कल-केतु से ।

बिलसते बर-कुण्डल कान थे ।

घिर रही जिन के सब ओर थी ।

विविध-भावमयी अलकावली ॥१९॥

मुकुट मस्तक था सिखि-पुच्छ का ।

अति-मनोहर मण्डित-माधुरी ।

असित-रत्न समान सुरंजिता ।

सतत थी जिस की बर-चन्द्रिका ॥२०॥

विशद-उज्ज्वल-उन्नत-भाल में ।

बिलसती कल केसर खौर थी ।

असित-पंकज के दल ज्यों लसे ।

रज-सुरंजित पीत-सरोज की ॥२१॥

मधुरिमा-मय था मृदु-बोलना ।

अधर थी मुसुकानि सुधा भरौ ।

समद थी जन-मानस मोहती ।

कमल-लोचन की कमनीयता ॥२२॥

सबलं-जानु-बिलंबित-बाहु थी ।

अति-सुपुष्ट-समुन्नत-वक्ष था ।

वय-किशोर-कला तन थी लसी ।

मुख प्रफुल्लित-पद्म समान था ॥२३॥

सरस-राग-समूह सहेलिका ।

सहचरी सब मोहन-मंत्र की ।

रसिकता-जननी कल-नादिनी ।

मुरलिका कर थी मधुवर्षिणी ॥२४॥

छलकती मुख थी छबि-पुंजता ।

छिटिकती छिति थी तन की छटा ।

बगरती बर दीप्ति दिगन्त थी ।

छितिज ज्यों छनदा-कर की कला ॥२५॥

मुदित गोकुल की जन-मण्डली ।

जब ब्रजाधिप सन्मुख जा पड़ी ।

निरखने मुख की छबि यों लगी ।

तृप्ति-चातक ज्यों घन की घटा ॥२६॥

पलक लोचन थी पड़ती नहीं ।

हिल नहीं सकता तन-लोम था ।

छबि-छकी बहु कामिनि यों बनीं ।

गठित-पाहन-पुत्तलिका यथा ॥२७॥

उच्छलते शिशु थे अति हर्ष से ।

युवक थे रस की निधि लूटते ।

जरठ को फल लोचन का मिला ।

निरख के सुखमा सुख मूल की ॥२८॥

बहु-विनोदित थीं ब्रज-बालिका ।

तरुणियां सब थीं तृण तोड़तीं ।

बलि गर्दं बहु बार बयोवती ।

लख अनुपमता ब्रज-चन्द की ॥२९॥

मुरलिका कर-कांज विराजती ।

जब अचानक थी बजती कभी ।

तब अन्न-पियूष-प्रवाह में ।-

जन-समागम था अवगाहता ॥३०॥

ढिग सुशोभित श्री बलराम थे ।

निकट गोप-कुमार समूह था ।

विविध रंगवती-गरिमामयी ।

सुरभि थीं सब ओर विराजतीं ॥३१॥

बज रहे बहु-शृंग-विषाण थे ।

क्वणित हो उठता वर-वेणु था ।

सरस-राग-समूह अलाप से ।

रसवती-अति थी सुदिता-दिशा ॥३२॥

विविध-भाव विमुग्ध बनी हुई ।
 सुदित थी बहु दर्शक-मण्डली ।
 तन-विभूषण काचित-कामिनी ।
 अति मनोहर था बजता कभी ॥३३॥

इधर था इस भांति समा बंधा ।
 उधर व्योम हुआ कुछ औरही ।
 अब न था उस में रवि राजता ।
 किरण भी न सुशोभित थी कहीं ॥३४॥

अरुणिमा जगती-तल-रंजिनी ।
 बहन थी करती अब कालिमा ।
 मलिन थी नव-राग-मयी-दिशा ।
 अवनि थी तमसावृत हो रही ॥३५॥

तिमिर की यह भूतल व्यापिनी ।
 तरल-धार विकाश-विरोधिनी ।
 जन-समूह-बिलोचन के लिये ।
 बन गई प्रति-मूर्ति बिराम की ॥३६॥

दुतिमती उतनी अब थी नहीं ।
 नयन की अति-दिव्य कनीनिका ।
 अब नहीं वह थी अवलोकती ।
 मधुर मूरति श्री घनश्याम की ॥३७॥

यह अभावुकता तम-पुंज की ।
 सह सकी नहिं तारक-मण्डली ।
 वह बिकाश विवर्द्धन के लिये ।
 निकलने नभ-मण्डल में लगी ॥३८॥

तदपि दर्शक-लोचन-लालसा ।
 फलवती न हुई तिल मात्र भी ।
 नयन की लख के यह दीनता ।
 सकुचने सरसौरुह भी लगे ॥३९॥

खग-समूह न थे अब बोलते ।
 बिटप थे सब नीरव हो गये ।
 मधुर मंजुल मत्त अलाप के ।
 अब न यंत्र बने तरु-बृन्द थे ॥४०॥

बिहग औ बिटपी-कुल मौनता ।
 प्रगट थी करती इस मर्म को ।
 श्रवण को वह नीरव थे बने ।
 करुण-अंतिम-बादन वेणुका ॥४१॥

बिहग-नीरवता-उपरान्त ही ।
 रुक गया स्वर शृंग विषाण का ।
 कल-अलाप समापित हो गया ।
 पर रही बजती बर-वंशिका ॥४२॥

विविध-मर्मभरौ करुणामयी ।
 ध्वनि बियोग-विराग-बिबोधिनी ।
 कियत-काल रही दिशि व्यापिनी ।
 फिर प्रभंजन में वह भी मिली ॥४३॥

ब्रज-धरा-जन जीवन-यंत्रिका ।
 बिटपि बेलि बिनोदित कारिणी ।
 मुरलिका जन-मानस-मोहिनी ।
 अहह मज्जित नीरवता हुई ॥४४॥

प्रथम ही तम की करतूत से ।
 छवि न लोचन थे अवलोकते ।
 अब निनाद रुके कल-वेणु के ।
 अवरण पान न था करता सुधा ॥४५॥

इस लिये रसना-जन-मण्डली ।
 सरस-भाव समुत्सुकता पगी ।
 अथन गौरव से करने लगी ।
 ब्रज-बिभूषण की गुण-मालिका ॥४६॥

जब दशा यह थी जन-वृन्द की ।
 जलज-लोचन थे तब जा रहे ।
 सहित गोगण गोप-समूह के ।
 अवनि-गौरव-गोकुल ग्राम में ॥४७॥

कियत-काल हुई यह भी क्रिया ।

फिर हुआ इस का अवसान भी ।

प्रथम थी बहु धूम मची जहां ।

अब वहां बढ़ता सुनसान था ॥४८॥

कर विदूरित लोचन-लालसा ।

नव-पियूष पिला कर कान को ।

गुण-मयी रसना करके गये ।

स्वगृह को अब दर्शकहृन्द भी ॥४९॥

प्रथम थी स्वर की लहरी जहां ।

पवन में अति मंजुल गूंजती ।

कल अलाप सुल्पावित था जहां ।

अब वहां पर नीरवता हुई ॥५०॥

विशद-चित्रपट्टी ब्रजभूमि की ।

रहित आज हुई बर चित्र से ।

रुबि यहां पर अंकित जो हुई ।

अहह लोप हुई सब-काल को ॥५१॥

चांदनी

[लाला भगवानदीन 'दीन' (संवत् १९२३-१९९० वि०)—दीनजी प्राचीन हिन्दी कविताके मर्मज्ञ विद्वान् थे । प्राचीन कवियोंके ग्रन्थोंपर इनकी टीकाएं तथा समालोचनाएं सर्वमान्य हैं । इनकी कविता पुस्तकें तथा अलंकार ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य-भाण्डारके रत्न हैं । ये हिन्दू-विश्वविद्यालयमें हिन्दीके अध्यापक थे ।]

खिल रही है आज कैसी भूमितल पर चांदनी ।
खोजती फिरती है किसको आज घर-घर चांदनी ।
घन-घटा घूंघट उठा मुसकाई है कुछ ऋतु शरद ।
मारी-मारी फिरती है इस हेतु दर-दर चांदनी !
रात की तो बात क्या, दिन में भी बनकर कुंद कांस ।
छाई रहती है बराबर भूमितल पर चांदनी ॥
सेत सारी-युक्त प्यारी की छटा के सामने ।
जंचती है ज्यों फूल के आगे हो पीतर चांदनी ।
स्वच्छता मेरे हृदय की देख लेगी क्या कभी ।
सत्य कहता हूं कि कांपे जायेगी थर-थर चांदनी !
नाचने लगते हैं मन आनन्दियों के मोद से ।
मानुषी मनको बना देती है बन्दर चांदनी !
भाव भरती है अनूठे मन के कवियों में अनेक ।
इनके हित हो जाती है जोगी मछंदर चांदनी !
वह किसी की माधुरी मुसकान की मनहर छटा—
'दीन' को सुमिरन करा देती है अकसर चांदनी ।

चमेली

[प० मन्नन द्विवेदी गजपुरी (संवत् १९४२-१९७८ वि०) — ये बी० ए० परीक्षा पास करनेके बाद आजमगढ़में तहसीलदार हुए थे। छात्रावस्थासे ही ये पत्र-पत्रिकाओंमें लेख लिखने लगे थे और आगे चलकर बड़े अच्छे लेखक हुए। इनकी भाषा बड़ी सजीव होती थी।]

सुन्दरता की रूपराशि तुम दयालुता की खान चमेली ।
तुमसी कन्याएं भारत को कब देगा भगवान चमेली ॥
चहक रहे खग-वृन्द वनों में अब न रही है रात चमेली ।
अमल कमल कुसुमित होते है देखो हुआ प्रभात चमेली ॥
प्रेम-मग्न प्रेमीजन देखो करें प्रभाती-गान चमेली ।
जिसने तुमसा वृक्ष लगाया कर माली का ध्यान चमेली ॥
जग-यात्रा में सहने होंगे कभी-कभी दुखभार चमेली ।
काट-छांट से मत घबराना यह भी उसका प्यार चमेली ॥
छिन्न-भिन्न डालों का होना अपने ही हित जान चमेली ।
हरे-हरे पत्ते निकलेंगे सुमनों के सामान चमेली ॥
अमर-भीर गुञ्जार करेगी, तुमसे हास-विलास चमेली ।
दिग-दिगन्त सुरभित होवेगा पाकर सुखद सुवास चमेली ॥
अटल नियम को भूल न जाना जग में सबका नाश चमेली ।
अस्त अंशमाली भी होता घूम अखिल आकाश, चमेली ॥
नहीं रहेगा भूल न शाखा नहीं मनोहर फूल चमेली ।
निराकार से मिलकर होना प्रियतम-पद की धूल चमेली ॥

जयद्रथ वध

[बाबू मैथिलीशरण गुप्त (संवत् १८४३-वर्तमान)—खड़ी बोलीके आधुनिक कवियोंमें गुप्तजीका स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी कविताकी भाषा बहुत शुद्ध और परिमार्जित होती है। इनके लिखे मौलिक तथा अनूदित काव्यग्रन्थोंकी संख्या ३० के लगभग है। इनकी कविताओंने भारतीय नवयुवकोंके हृदयमें राष्ट्रीय भावोंके जागरणका बहुत बड़ा काम किया है।]

प्रथम सर्ग

वाचक ! प्रथम सर्वत्र ही 'जय जानकी-जीवन' कहो,
फिर पूर्वजों के शील की शिक्षा-तरङ्गों में बहो ।
दुःख, शोक, जब जो आ पड़े, सो धैर्य पूर्वक सब सहो,
होगी सफलता क्यों नहीं कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो ॥
अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है ;
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है ।
इस तत्त्व पर ही कीरवों से पाण्डवों का रण हुआ,
जो भव्य भारतवर्ष के कल्याण का कारण हुआ ॥
सब लोग हिलमिल कर चलो, पारस्परिक ईर्ष्या तजो,
भारत न दुर्दिन देखता मचता महाभारत न जो ।
हो स्वप्नतुल्य सदैव को सब शौर्य सहसा खो गया,
हा हा ! इसी समराग्नि में सर्वस्व खाहा हो गया !
दुर्धन दुर्योधन न जो शठता-सहित हठ ठानता,
जो प्रेम-पूर्वक पाण्डवों की मान्यता को मानता,

तो डूबता भारत न यों रण-रक्त-पारावार में,
 'ले डूबता है एक पापी नाव को मंभधार में' ।
 हा ! बन्धुओं के ही करों से बन्धुगण मारे गये ।
 हा ! तात से सुत, शिष्य से गुरु, स-हठ संहारे गये !
 इच्छा-रहित भी वीर पाण्डव रत हुए रण में अहो !
 कर्त्तव्यके वश विज्ञ जन क्या क्या नहीं करते कहो ?
 यह अति अपूर्व कथा हमारे ध्यान देने योग्य है,
 जिस विषय से सम्बन्ध हो वह जान लेने योग्य है ।
 अतएव कुछ आभास इसका है दिया जाता यहां,
 अनुमान थोड़े से बहुत का है किया जाता यहां ॥
 रणधीर द्रोणाचार्य-कृत दुर्भेद्य चक्रव्यूह को,
 शत्रुसज्जित अथित, विस्तृत शूरवीर-समूह को,
 जब एक अर्जुनके बिना पाण्डव न भेदन कर सके,
 तब बहुत ही व्याकुल हुए सब यत्न कर करके थके ॥
 यों देखकर चिन्तित उन्हें धर ध्यान समरोत्कर्षको,
 प्रस्तुत हुआ अभिमन्यु रण को शूर षोडश वर्ष को,
 वह वीर चक्रव्यूह-भेदन में सहज सज्जान था,
 निज जनक अर्जुन-तुल्य ही बलवान था गुणवान था
 "हे तात ! तजिए सोच को, है काम ही क्या लेश का ?
 मैं द्वार उदघाटित करूंगा व्यूह-बीच प्रवेश का ।"
 यों पाण्डवों से कह, समर को वीर वह सज्जित हुआ,
 छवि देख उसकी उस समय सुरराज भी लज्जित हुआ ॥
 नर-देव-सम्भव वीर वह रण-मध्य जाने के लिए,
 बोला वचन निज सारथी से रथ सजाने के लिए ।

यह विकट साहस देख उसका, सूत विस्मित हो गया ;
 कहने लगा इस भांति फिर वह देख उसका वय नया—
 “हे शत्रुनाशन ! आपने यह भार गुरुतर है लिया,
 हैं द्रोण रण-पण्डित ; कठिन है व्यूह-भेदन की क्रिया ।
 रणविज्ञ यद्यपि आप हैं, पर, सहज ही सुकुमार हैं,
 सुखसहित नित पोषित हुए, निजवंश-प्राणाधार हैं ॥”
 सुन सारथी की यह विनय बोला वचन वह वीर यों—
 करता घनाघन गगन में निर्घोष अति गम्भीर ज्यों ।
 “हे सारथे । हैं द्रोण क्या, देवेन्द्र भी आकर अडे,
 है खेल क्षत्रिय बालकों का व्यूह-भेदन कर लड़े ।
 श्रीराम के हयमेध से अपमान अपना मान के,
 मख-अश्व जब लव और कुश ने जय किया रण ठान के ।
 अभिमन्यु षोडश वर्ष का फिर क्यों लड़े रिपु से नहीं,
 क्या आर्य-वीर विपक्ष-वैभव देख कर डरते कहीं ?
 सुन कर गजों का घोष उसको समझ निज अपयश-कथा,
 उन पर झपटता सिंह-शिशु भी रोष कर जब सर्वथा ।
 फिर व्यूह-भेदन के लिए अभिमन्यु उद्यत क्यों न हो,
 क्या वीर-बालक शत्रु का अभिमान सह सकते कहो ?
 मैं सत्य कहता हूँ, सखे ! सुकुमार मत मानों मुझे,
 यमराज से भी युद्ध को प्रस्तुत सदा जानों मुझे ।
 है और की तो बात ही क्या, गर्व मैं करता नहीं,
 मामा तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं ॥
 ज्यों ऊनषोडश वर्ष के राजीवलोचन राम ने,
 मुनि-मख किया था पूर्ण वध कर राक्षसों को सामने ।

कर व्यूह-भेदन आज त्यों हो वैरियों को मार के,
 निज तात का मैं हित करूँगा विमल यश विस्तार के ॥”
 यों कह वचन निज सूत से वह वीर रण में मन दिये,
 पहुँचा शिविर में उत्तरा से बिदा लेने के लिए ।
 सब हाल उसने निज प्रिया से जब कहा जाकर वहां,
 कहने लगी तब वह स्वपति के अति निकट आकर वहां—
 “मैं यह नहीं कहती कि रिपु से जीवितेश लड़ें नहीं,
 तेजस्वियों की आयु भी देखी भला जाती कहीं ?
 मैं जानती हूँ नाथ । यह, मैं मानती भी हूँ तथा—
 उपकरण से क्या, शक्ति में ही सिद्धि रहती सर्वथा ॥
 क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बड़ा गौरव यही—
 सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही ।
 जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न-बाधा डालतीं—
 होकर सती भी वह कहां कर्तव्य अपना पालतीं ?
 अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिए,
 मत जाइए सम्प्रति समर में, प्रार्थना यह मानिए ।
 जाने न दूँगी आज मैं प्रियतम तुम्हें संग्राम में,
 उठती बुरी हूँ भावनाएँ हाथ । इस हृदय में ॥
 है आज कैसा दिन न जाने, देव-गण अनुकूल हों,
 रक्षा करें प्रभु मार्ग में जो शूल हों वे फूल हों ।
 कुछ राज-पाट न चाहिए, पाऊँ न क्यों मैं त्रास ही ;
 हे उत्तरा के धन । रहो तुम उत्तरा के पास ही ॥”
 कहती हुई यों उत्तरा के नेत्र जल से भर गये,
 हिम के कणों से पूर्ण मानों हो गये पङ्कज नये ।

निज प्राणपति के स्कन्ध पर रख कर वदन वह सुन्दरी,
 करने लगी फिर प्रार्थना नाना प्रकार व्यथा-भरी ।
 यों देख कर व्याकुल प्रिया को सान्त्वना देता हुआ,
 उसका मनोहर पाणि-पल्लव हाथ में लेता हुआ,
 करता हुआ वारण उसे दुर्भावना की भीति से,
 कहने लगा अभिमन्यु-यों प्यारे वचन अति प्रीति से—
 “जीवनमयी, सुखदायिनी, प्राणाधिके, प्राणप्रिये !
 कातर तुम्हें क्या चित्त में इस भांति होना चाहिए ?
 हो शान्त सोचो तो भला, क्या योग्य है तुमको-यही,
 हा ! हा ! तुम्हारी विकलता जाती नहीं मुझसे सही ॥
 वीर-स्रुषा तुम, वीर-रमणी, वीर-गर्भा हो तथा,
 आश्चर्य, जो मम रण-गमन से हो तुम्हें फिर भी व्यथा !
 हो जानती बातें सभी कहना हमारा व्यर्थ है ;
 बदला न लेना शत्रु से कैसा अधर्म अनर्थ है ?
 निज शत्रु का साहस कभी बढ़ने न देना चाहिए,
 बदला समर में वैरियों से शीघ्र लेना चाहिए ।
 पापी जनों को दण्ड देना चाहिए समुचित सदा,
 वर वीर क्षत्रिय-वंश का कर्त्तव्य है यह सर्वदा ॥
 इन कौरवों ने हा ! हमें सन्ताप कैसे हैं दिये,
 सब सुन चुंकी हो तुम इन्होंने पाप जैसे हैं किये !
 फिर भी इन्हें मारे बिना हम लोग यदि जीते रहें,
 तो सोच लो संसार भर के वीर हमसे क्या कहें ?
 जिस पर हृदय का प्रेम होता सत्य और समग्र है,
 उसके लिए चिन्तित तथा रहता सदा वह व्यग्र है ।

होता इसी से है तुम्हारा चित्त चञ्चल है प्रिये ।
 यह सोच कर सो अब तुम्हें शङ्कित न होना चाहिये—
 रण में विजय पाकर प्रिये । मैं शीघ्र आजंगा यहां,
 चिन्ता करो मन में न तुमको भूल जाऊंगा वहां !
 देखो, भला भगवान् ही जब है हमारे पक्ष में,
 जीवित रहेगा कौन फिर आकर हमारे लक्ष में ?”
 यों धैर्य देकर उत्तरा को, हो विदा सझाव से ;
 वीराग्रणी अभिमन्यु पहुंचा सैन्य में अति चाव से ।
 स्वर्गीय साहस देख उसका सौगुने उत्साह से,
 भरने लगे सब सैनिकों के हृदय हर्ष-प्रवाह से ॥
 फिर पाण्डवों के मध्य में अति भव्य निज रथ पर चढ़ा ।
 रणभूमि में रिपु-सैन्य-सम्मुख वह सुभद्रा-सुत बढ़ा ।
 पहले समय में ज्यों सुरों के मध्य में सज कर भले ;
 ये तारकासुर मारने गिरिनन्दिनी-नन्दन चले ॥
 वाचक ! विचारो तो जरा, इस समय की अदभुत कृपा,
 कैसी अलौकिक घिर रही है शूरवीरों का घटा ।
 दुर्मेघ चक्रव्यूह समुख धार्तराष्ट्र रचे खड़े,
 अभिमन्यु उसके भेदने को हो रहे आतुर बढ़े ॥
 तत्काल ही दोनों दलों में घोर रण होने लगा,
 प्रत्येक पल में भूमि पर वर वीर-गण सोने लगा ।
 रौने लगीं मानों दिशाएं पूर्ण हो रण-घोष से,
 करने लगे आघात समुख शूर-सैनिक रोष से ॥
 इस युद्ध में सौभद्र ने जो की प्रदर्शित वीरता,
 अनुमान में आती नहीं उसकी अगम गम्भीरता ।

जिस धीरता से शत्रुओं का सामना उसने किया,
 असमर्थ हो उसके कथन में मौन वाणी ने लिया ॥
 करता हुआ कर-निकर दुर्द्धर सृष्टि के संहार को,
 कल्पान्त में सन्तप्त करता सूर्य ज्यों संसार को ।
 सब ओर त्यों ही छोड़ कर निज प्रखरतर शर-जाल को,
 करने लगा वह वीर व्याकुल शत्रु-सैन्य विशाल को ॥
 शर खींच उसने तूण से कव, किधर सन्धाना उन्हें,
 वस विद्ध होकर ही विपक्षी-वृन्द ने जाना उन्हें ।
 कोदण्ड कुण्डल-तुल्य ही उसका वहां देखा गया,
 अविराम रण करता हुआ वह राम-सम लेखा गया ॥
 कटने लगे अगणित भटों के रुण्ड-मुण्ड जहां तहां,
 गिरने लगे कट कर तथा कर-पद सहस्रों के वहां ।
 केवल कलार्द्र ही कुतूहल-वश किसी की काट दी,
 क्षणमात्र में ही अरि-गणों से भूमि उसने पाट दी ॥
 करता हुआ वध वैरियों का वैर-शोधन के लिए,
 रण-मध्य वह फिरने लगा अति दिव्य द्युति धारण किये ।
 उस काल सूत सुमित्र के रथ हांकने की रीति से,
 देखा गया वह एक ही दस-बीस-सा अति भीति से !
 उस काल जिस जिस ओर वह संग्राम करने को गया,
 भगते हुए अरि-वृन्द से मैदान खाली हो गया ।
 रथ-पथ कहीं भी रुद्ध उसका दृष्टि में आया नहीं,
 सम्मुख हुआ जो वीर वह मारा गया तत्क्षण वहीं ॥
 ज्यों भेद जाता भानु का कर अन्धकार-समूह को,
 वह पार्थ-नन्दन घुस गया त्यों भेद चक्रव्यूह को ।

ये वीर लाखों पर किसी से गति न उसकी रुक सकी
 सब शत्रुओं की शक्ति उसके सामने सहसा थकी ॥
 पर साथ भी उसके न कोई जा सका निज शक्ति से,
 था द्वार-रक्षक नृप जयद्रथ सबल शिव की भक्ति से ।
 अर्जुन बिना उसको न कोई जीत सकता था कहीं,
 ये किन्तु उस संग्राम में भवितव्यता-वश वे नहीं ॥
 तब विदित कर्ण-कनिष्ठ भ्राता बाण बरसा कर बड़े,
 “रे खल ! खड़ा रह” वचन यों कहने लगा उससे कड़े ।
 अभिमन्यु ने उनको अवण कर प्रथम कुछ हंस भर दिया,
 फिर एक शर से शीघ्र उसका शीश खण्डित कर दिया !
 यों देख मरते निज अनुज को कर्ण अति क्षोभित हुआ,
 सन्तप्त स्वर्ण-समान उसका वर्ण अति शोभित हुआ ।
 सौमद्र पर सौ बाण छोड़े जो अतीव कराल थे,
 आः ! बाण थे वे या भयङ्कर पक्षधारी व्याल थे ॥
 अर्जुन-तनय ने देख उनको वेग से आते हुए,
 खण्डित किया भट बीच ही में धैर्य दिखलाते हुए ।
 फिर हस्तलाघव से उसी क्षण काट के रिपु चाप को,
 रथ, सूत, रक्षक नष्ट कर सींपा उसे सन्ताप को ॥
 यों कर्ण को हारा समझ कर चित्त में अति क्रुद्ध हो,
 दुर्योधनात्मज वीर लक्ष्मण आगया फिर युद्ध को ।
 सम्मुख उसे अवलोक कर अभिमन्यु यों कहने लगा,
 मानों भयङ्कर सिन्धुनद हृद तोड़ कर बहने लगा—
 “तुम हो हमारे बन्धु इससे हम जताते हैं तुम्हें,
 मत जानियो तुम यह कि हम निर्बल बताते हैं तुम्हें ।

अब इस समय तुम निज जनों को एक बार निहार लो,
 यम-धाम में ही अन्यथा होगा मिलाप विचार लो ॥”
 उस वीर को, सुन कर वचन ये लग गई बस आग-सी,
 हो क्रुद्ध उसने शक्ति छोड़ी एक निष्ठर नाग-सी ।
 अभिमन्यु ने उसको विफल कर “पाण्डवों की जय” कही,
 फिर शर चढ़ाया एक जिसमें ज्योति-सी थी जग रही ।
 उस अर्द्धचन्द्राकार-शर ने छूट कर कोदण्ड से,
 छेदन किया रिपु-कण्ठ तत्क्षण फलक-धार प्रचण्ड से ।
 होता हुआ इस भांति भासित शीश उसका गिर पड़ा ;
 होता प्रकाशित टूट कर नक्षत्र ज्यों नभ से बड़ा ॥
 तत्काल हाहाकार-युत रिपु-पक्ष से दुख छा गया,
 फिर दुष्ट दुःशासन समर में शीघ्र समुख आ गया ।
 अभिमन्यु उसको देखते ही क्रोध से जलने लगा,
 निश्वास बारम्बार उसका उष्णतर चलने लगा ।
 “रे रे नराधम-नारकी ! तू था-बता अब तक कहां ?-
 मैं खोजता फिरता तुम्हें सब ओर कब से हूँ यहां ।
 यह देख, मेरा बाण तेरे प्राण-नाश निमित्त है,
 तैयार हो, तेरे अघों का आज प्रायश्चित्त है !
 सब सैनिकों के सामने ही आज वध करके तुम्हें,
 संसार में माता-पिता से है उद्धरण होना सुम्हें ।
 मेरे करों-से अब तुम्हें कोई बचा सकता नहीं,
 पर देखना, रणभूमि से तू भाग मत जाना कहीं ।”
 कह यों वचन अभिमन्यु ने छोड़ा धनुष से बाण को,
 रिपु भाल में वह घुस गया भट भेद शीर्ष-त्राण को ।

तब रक्त से भीगा हुआ वह गिर पड़ा पाकर व्यथा,
 सन्ध्या समय पश्चिम-जलधि में अरुण रवि गिरता यथा ॥
 मूर्छित समझ उसको समर से ले गया रथ-सारथी,
 लड़ने लगा तब नृप बृहदुबल उचित नाम महारथी ।
 कर खेल क्रीडासक्त हरि ज्यों मारता करि को कभी,
 मारा उसे अभिमन्यु ने त्यों छिन्न करके तनु सभी ॥
 उस एक ही अभिमन्यु से यों युद्ध जिस जिसने किया,
 मारा गया अथवा समर से विमुख होकर ही जिया ।
 जिस भांति विद्युद्दाम से होती सुशोभित घन-घटा,
 सर्वत्र छिटकाने लगा वह समर में शस्त्रच्छटा ॥
 तब कर्ण द्रोणाचार्य साश्वर्य्य यों कहने लगा—
 “आचार्य । देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा ।
 रघुवर-विशिख से सिन्धु-सम सब सैन्य इससे व्यस्त है ।
 यह पार्थ-नन्दन पार्थ से भी धीर वीर प्रशस्त है ।
 होना विमुख संग्राम से है पाप वीरों को महा,
 यह सोच कर ही इस समय ठहरा हुआ हूँ मैं यहाँ ।
 जैसे बने अब मारना ही योग्य इसको है यहीं,
 सच जान लीजि अन्यथा निस्तार फिर होगा नहीं ॥”
 वीराग्रणी अभिमन्यु । तुम हो धन्य इस संसार में,
 हैं शत्रु भी यों मग्न जिसके शौर्य्य-पारावार में ।
 होता तुम्हारे निकट निष्प्रभ तेज शशि का, सूर का,
 करते विपत्ती भी सदा गुण-गान सच्चे शूर का ॥
 तब सप्त रथियों ने वहाँ रत हो महा दुष्कर्म में—
 मिल कर किया आरम्भ उसको विद्ध करना मर्म में ।

कृप, कर्ण, दुःशासन, सुयोधन, शकुनि, सुत-युत द्रोण भी,
 उस एक बालक को लगे वे मारने बहु विध सभी !
 अर्जुन-तनय अभिमन्यु तो भी अचल-सम अविचल रहा,
 उन सप्त रथियों का वहां आघात सब उसने सहा !
 पर एक साथ प्रहार-कर्त्ता हीं चतुर्दश कर जहां,
 युग कर कहो, क्या क्या यथायथ कर सके विक्रम वहां ?
 कुछ देर में जब रिपु-शरीरों से अश्व उसके गिर पड़े,
 तब क्रोध कर रथ से चला वह थे जहां वे सब खड़े ।
 जब तक शरीरागार में रहते जरा भी प्राण हैं,
 करते समर से वीर जन पीछे कभी न प्रयाण हैं ॥
 फिर नृत्य-सा करता हुआ धन्वा लिये निज हाथ में,
 लड़ने लगा निर्भय वहां वह शूरता के साथ में ।
 था यदपि अन्तिम दृश्य यह उसके अलौकिक कर्म का,
 पर मुख्य परिचय भी यही था वीर जन के धर्म का ॥
 होता प्रविष्ट मृगेन्द्र-शावक ज्यों गजेन्द्र-समूह में ;
 करने लगा वह शौर्य त्यों उन वैरियों के व्यूह में ।
 तब छोड़ते कोदण्ड से सब ओर चण्ड-शरावली,
 मार्तण्ड-भण्डल के उदय की कवि मिली उसको भली ॥
 यों विकट विक्रम देख उसका धैर्य रिपु खोने लगे,
 उसके भयङ्कर वेग से अस्थिर सभी होने लगे ।
 हंसने लगा वह वीर उनकी धीरता यह देख के,
 फिर यों वचन कहने लगा तृण-तुल्य उनको लेख के—
 “मैं एक, तुम बहु सहचरों से युक्त विशुत सात हो,
 एकत्र फिर अन्याय से करते सभी आघात हो ।

होते विमुख तो भी अहो ! भिलता न मेरा वार है,
 तुम वीर कैसे हो, तुम्हें-धिकार सौ सौ वार है ॥”
 उस शूर के सुन यों वचन बोला सुयोधन आप यों—
 “है काल अब तेरा निकट करता अनर्थ प्रलाप क्यों ?
 जैसे वने निज वैरियों के प्राण हरना चाहिए,
 निज मार्ग निष्कण्टक सदा सब भांति करना चाहिए ॥”
 “यह कथन तेरे योग्य ही है” प्रथम यों उत्तर दिया,
 खरतर-शरों से फिर उसे अभिमन्यु ने मूर्च्छित किया ।
 उस समय ही जो पार्श्व से छोड़ा गया था तान के,
 उस कर्ण-शर ने चाप उसका काट डाला आन के ॥
 तब खींच कर खर-खड़ फिर वह रत हुआ रिपु-नाश में,
 चमकी प्रलय की बिजलियां घनघोर समराकाश में ।
 पर हाय ! वह आलोक-मण्डल अल्प ही मण्डित हुआ,
 वज्रक-विपक्षी वृन्द से वह खड़ भी खण्डित हुआ,
 यों रिक्त-हस्त हुआ जहाँ वह वीर रिपु-संघात में ।
 घुसने लगे सब शत्रुओं के बाण उसके गात में ।
 वह पाण्डु-वंश प्रदीप यों शोभित हुआ उस काल में—
 सुन्दर सुमन ज्यों पड गया हो कण्टकों के जाल में ॥
 संग्राम में निज शत्रुओं की देख कर यह नीचता,
 कहने लगा वह यों वचन दृग युग करों से मीचता—
 “निःशस्त्र पर तुम वीर बन कर वार करते हो अहो !
 है पाप तुमको देखना भी पामरो ! सम्मुख न हो ॥
 दो शस्त्र पहले तुम मुझे, फिर युद्ध सब मुझसे करो,
 यों स्वार्थ-साधन के लिए मत पाप-पथ में पद धरो ।

कुछ प्राण-भिन्ना मैं न तुमसे मांगता हूँ भीति से,
 बस शस्त्र ही मैं चाहता हूँ धर्म-पूर्वक नीति से ।
 कर में सुभे तुम शस्त्र देकर फिर दिखाओ वीरता,
 देखूँ यहां फिर मैं तुम्हारी धीरता, गम्भीरता ।
 हो सात क्या, सौ भी रहो, तो भी रुलाऊँ मैं तुम्हें,
 कर पूर्ण रण-लिप्ता अभी क्षण में सुलाऊँ मैं तुम्हें ॥
 निःशस्त्र पर आघात करना सर्वथा अन्याय है,
 स्वीकार करता बात यह सब शूर-जन-समुदाय है ।
 पर जान कर भी हा ! इसे आतो न तुमको लाज है !
 होता कलङ्कित आज तुमसे शूरवीर-समाज है ॥
 हैं नीच ये सब शूर पर आचार्य ! तुम 'आचार्य' हो,
 वर वीर-विद्या-विज्ञ मेरे तात-शिष्यक आर्य हो ।
 फिर-आज इनके साथ तुमसे हो रहा जो कर्म है,
 मैं पूछता हूँ, वीर का रण में यही क्या धर्म है ?
 यह सत्य है कि अधर्म से मैं निहित होता हूँ अभी,
 पर शीघ्र इस दुष्कर्म का तुम दण्ड पाओगे सभी ।
 क्रोधाग्नि ऐसी पाण्डवों की प्रज्वलित होगी यहां,
 तुम शीघ्र जिसमें भस्म होगी तूल-तुल्य जहां तहां ॥
 मैं तो अमर होकर यहां अब शीघ्र सुरपुर को चला,
 पर याद रखो, पाप का होता नहीं है फल भला ।
 तुम और मेरे अन्य रिपु पाकर कहावेंगे सभी,
 सुन कर चरित मेरा सदा आंसू बहावेंगे सभी ॥
 हे तात ! हे मातुल ! जहां हो है प्रणाम तुम्हें वहीं,
 अभिमन्यु का इस भांति मरना भूल मत जाना कहीं !”

कहता हुआ वह वीर यों रण-भूमि में फिर गिर पड़ा,
 हो भङ्ग शृङ्ग सुमेरु गिरि का गिर पड़ा हो ज्यों बड़ा ।
 इस भांति उसको भूमि पर देखा पतित होते यदा,
 दुःशील दुःशासन-तनय ने शीश में मारी गदा ।
 दृग बन्द कर तब वह यशोधन सर्वदा को सो गया ;
 हा ! एक अनुपम रत्न मानों मेदिनी का खोगया ॥
 हे वीरवर अभिमन्यु ! अब तुम हो यदपि सुर-लोक में,
 पर अन्त तक रोते रहेंगे हम तुम्हारे शोक में ।
 दिन दिन तुम्हारी कीर्ति का विस्तार होगा विश्व में,
 तब शत्रुओं के नाम पर धिक्कार होगा विश्व में ॥

मातृभूमि

[बाबू मैथिलीशरण गुप्त]

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
 सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है ।
 नदियां प्रेम-प्रवाह, फूल तारे-मण्डल हैं ;
 वन्दी विविध विहंग, शेष-फन सिंहासन है ।
 करते अभिषेक पयोद है,
 बलिहारी इस वेश की ।
 है मातृभूमि तू सत्य ही,
 सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥१॥

मृतक समान अशक्त विवश आंखों को मीचे ;
 गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे !
 करके जिसने क्षपा हमें अवलम्ब दिया था ;
 लेकर अपने अतुल अंग में त्राण किया था ।
 जो जननी का भी सर्वदा,
 थी पालन करती रही ।
 तू क्यों न हमारी पूज्य हो,
 मातृभूमि मातामही ॥२॥

जिसकी रज में लोट-लोटकर बड़े हुए हैं ;
 घुटनों के बल सरक-सरककर खड़े हुए हैं ।
 परमहंस-सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
 जिसके कारण 'धूलभरे हीरे' कहलाये ।
 हम खेले कूदे हर्ष-युत,
 जिसकी प्यारी गोद में !
 हे मातृभूमि ! तुझको निरख,
 मग्न क्यों न हो मोद में ? ॥३॥

पालन, पोषण और जन्म का कारण तू ही ;
 वक्षःस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही ।
 अभ्रंक्ष प्रासाद और ये महल हमारे ;
 बने हुए हैं अहो ! तुम्हीं से तुझ पर सारे ॥

हे माटभूमि जब हम कभी,
 शरण न तेरी पायंगे,
 बस तभी प्रलय के पेट में,
 सभी लीन हो जायंगे ! ॥४॥

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है ,
 बदले में कुछ नहीं किसी से तू लेती है ।
 अष्ट एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा ,
 पोषण करती प्रेमभाव से सदा हमारा ।
 हे माटभूमि ! उपजें न जो,
 तुझसे कृषि अंकुर कभी ।
 तो तड़प-तड़पकर जल मरें,
 जठरानल में हम सभी ॥५॥

पाकर तुझसे सभी सुखों को हमने भोगा ,
 तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हमसे होगा ?
 तेरी ही यह देह तुझी से बनी हुई है ,
 बस तेरे ही सुरस-सार से सनी हुई है ।
 हा । अन्त समय तू ही इसे,
 अचल देख अपनायगी ।
 हे माटभूमि ! यह अन्त में ,
 तुझमें ही मिल जायगी ॥६॥

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है-खोता,
 जिस प्रेमी का प्रेम हमें सुददायक होता ।
 जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता ;
 नहीं टूटता कभी जन्मभर जिनसे नाता ।
 उन सबमें तेरा सर्वदा ;
 व्याप्त हो रहा तत्त्व है ।
 हे मातृभूमि ! तेरे सदृश,
 किसका महा महत्त्व है ? ॥७॥

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है ;
 शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेता अम है ।
 षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है ;
 हरियाली का फ़र्श नहीं मखमल से कम है ।
 शुचि सुधा सींचता रात में,
 तुझ पर चन्द्र प्रकाश है ।
 हे मातृभूमि ! दिन में तरुणि,
 करता तम का नाश है ॥८॥

सुरभित सुन्दर सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं ;
 भांति-भांति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं ।
 औषधियां हैं प्राप्त एक से एक निराली ;
 खाने शोभित कहीं धातु-वर-रत्नोंवाली ।

आवश्यक जो होते हमें,
मिलते सभी पदार्थ हैं ।
हे मातृभूमि ! 'बसुधा' 'धरा'
तेरे नाम यथार्थ हैं ॥८॥

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी ।
नदियां पैर पखार रही है बनकर चेरी ,
फलों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी ।
मृदुमलय-वायु मानों तुझे,
चन्दन चारु चढ़ा रही ।
हे मातृभूमि ! किसका न तू,
सात्त्विक भाव बढ़ा रही ? ॥९॥

क्षमामयी तू दयामयी है ; क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है ;
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुःखहर्त्री है,
भय-निवारिणी शान्तिकारिणी सुखकर्त्री है ;
हे शरणदायिनी देवि । तू,
करती सबका त्राण है ।
हे मातृभूमि ! सन्तान हम,
तू जननी, तू प्राण है ॥१०॥

आते ही उपकार याद है माता ! तेरा,
 हो जाता मन मुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा,
 तू पूजा के योग्य, कीर्ति तेरी हम गावें,
 मन तो होता तुझे उठाकर शीश चढ़ावें ;
 वह शक्ति कहां, हा क्या करें,
 क्यों हमको लज्जा न हो ।
 हम मातृभूमि ! केवल तुझे,
 शीश झुका सकते अहो ! ॥१२॥

कारण-वश जब शोकदाह से हम दहते हैं,
 तब तुझ पर ही लोट-लोटकर दुख सहते हैं ।
 पाखंडी भी धूल चढ़ाकर तन में तेरी,
 कहलाते हैं साधु, नहीं लगती है देरी ।
 इस तेरी ही शुचि धूलि में,
 मातृभूमि ! वह शक्ति है ।
 जो क्रूरों के भी चित्त में,
 उपजा सकती भक्ति है ॥१३॥

कोई व्यक्तिविशेष नहीं तेरा अपना है,
 जो यह समझे हाथ । देखता वह सपना है ।
 तुझको सारे जीव एकसे ही प्यारे हैं,
 कर्मों के फल मात्र यहां न्यारे-न्यारे हैं ।

हे माटभूमि ! तेरे निकट,
 सब का सम सम्बन्ध है,
 जो भेद मानता वह अहो !
 लोचनयुत भी अन्ध है ॥१४॥

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
 उससे हे भगवान । कभी हम रहें न न्यारे ।
 लोट-लोटकर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
 उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे ।
 उस माटभूमि की धूल में ,
 जब पूरे सन जायंगे ।
 होकर भव-बन्धन-मुक्त हम,
 आत्मरूप बन जायंगे ॥१५॥

अन्वेषण

- रामनरेश त्रिपाठी (संवत् १९४६ वि०-वर्तमान)—इनका जन्म कीड़रीपुर, जिला जौनपुरमें हुआ था । पद्य रचनामें इनकी अच्छी ख्याति है । इनकी कविता बड़ी भावमयी होती है । (देखो “सौजन डल है,” पृष्ठ—गद्यांश, १०२ ।]

मैं ढूँढ़ता तुम्हें था जब कुञ्ज और वन में ।
 तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में ॥
 तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था ।
 मैं था तुम्हें बुलाता संगीत में, भजन में ॥

मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू ।
 मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में ॥
 बनकर किसी के आंसू मेरे लिए बहा तू ।
 मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में ॥

दुख से रुला रुलाकर तूने मुझे चिताया ।
 मैं मस्त हो रहा था तब हाय अंजुमन में !
 बाजे बजा-बजाकर मैं था तुझे रिझाता ।
 तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में ॥

मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर ।
 उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में ।
 तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुआओं के ।
 मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहां चरन में ॥

तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं ।
 तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में ॥
 हरिचंद और ध्रुव ने कुछ और ही बताया ।
 मैं तो समझ रहा था तेरा प्रताप धन में ॥

तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था ।
 पर तू बसा हुआ था फ़रहाद कोहकन में ॥
 क्रीसस की हाथ में था करता विनोद तूही ।
 तू ही बिहंस रहा था महमूद के रुदन में ॥

प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना ।

तूही मचल रहा था मंसूर की रहन में ॥

आखिर चमक पड़ा था गांधी की हड्डियों में ।

मैं तो समझ रहा था सुहरावपील-तन में ॥

कैसे तुझे मिलूंगा जब भेद इस कदर है ।

हैरान होके भगवन आया हूँ मैं सरन में ॥

तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में ।

तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में ॥

तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुसलिमों में ।

विश्वास क्रिश्चियन में तू सत्य है सुजन में ॥

हे दीनबन्धु ! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू ।

देखूँ तुझे दृष्टि में, मन में तथा वचन में ॥

कठिनाइयों, दुखों का इतिहास ही सुयश है ।

सुभक्तों को समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में ॥

दुख में न हार मानूँ, सुख में तुझे न भूलूँ ।

ऐसा प्रभाव भर दे, मेरे अधीर मन में ॥

घट

[बाबू सियारामशरण गुप्त (संवत् १९५२-वर्तमान)—ये बाबू मैथिलीशरणजीके छोटे भाई हैं। ये भी एक प्रतिभाशाली कवि हैं और छोटी छोटी कहानिया भी अच्छी लिखते हैं।]

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज मलमलकर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको बांधा है इस बन्धन में ?
फांसी-सी है पड़ी गले में नीचे गिरता जाता हूँ ।
बार-बार इस अन्ध-कूप में इधर उधर टकराता हूँ ।
ऊपर-नीचे तम ही तम है ; बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता गिरकर मैं जा रहा कहां !
कांप रहा हूँ ; भय के मारे हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण,
ऐसे दुःखमय जीवन से हा ! किस प्रकार पाऊँ मैं प्राण ?
सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या, नहीं दीखता एक उपाय ;
यह क्या ? यह तो अगम नीर है, डूबा, अब मैं डूबा हाय !
भगवन् ! हाय ! बचा लो अब तो, तुम्हें पुकारूँ मैं जबतक,
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में आर्तनाद करके तब तक ।
अरे, कहाँ वह गई रिक्तता ! भय का भी अब पता नहीं ;
गौरवान हुआ हूँ सहसा, बना रहूँ तो क्यों न यहीं ?
पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा उज्ज्वलतर जीवन लेकर,
तुमसे उद्दण नहीं हो सकता यह नवजीवन भी देकर ।

उद्गार

[पं० मुकुटधर पांडेय (संवत् १८५२-वर्तमान)—ये एक प्रतिभाशाली कवि हैं, संगीत के उनी हैं तथा गद्य लिखनेका भी अच्छा अभ्यास है। बंगलामें लिखी कई पुस्तकोंका हिन्दीमें अनुवाद किया है।]

मेरे जीवन की लघु तरणी ! आंखों के पानी में तर जा ।
मेरे उर का छिपा खज़ाना, अहङ्कार का भाव-पुराना,
बना आज तू सुभे दिवाना, तप्त खेद-बूंदों में ढर जा ॥१॥
मेरे नयनों की चिर आशा, प्रेम-पूर्ण सौंदर्य पिपासा,
मत कर नाहक और तमाशा, आ, मेरी आहों में भर जा ॥२॥
मृदुल मनोरथ-तरु में फूला, फूल रंग में अपने भूला,
भूल चुका बस, जो कुछ भूला, अब अपनी डाली से भर जा ॥३॥
चढ़ी हृदय में चिता कराला, ऊपर नम तक उठती ज्वाला,
'मरण दुःख ! ले सुक्तामाला, गिरकर अब उसमें तू मर जा ॥४॥
ऐ मेरे प्राणों के प्यारे ! इन अधीर आंखों के तारे !
बहुत हुआ मत अधिक सतारे । बातें कुछ भी तो अब कर जा ॥५॥
मानस-भवन पड़ा है सूना, तमोधाम का बना नमूना,
कर उसमें प्रकाश अब दूना, मेरी उग्र वेदना हर जा ॥६॥
मोहित तुझको करनेवाली, नहीं आज सुख की वह लाली,
हृदय-यन्त्र यह रक्खा खाली, अब नूतन सूर उसमें भर जा ॥७॥

अभिलाषा

[श्रीमती तोरनदेवी शुक्ल 'लली' (संवत् १९५३-वर्तमान)—लगभग ३० वर्षसे वे हिन्दी-पत्रपत्रिकाओंमें कविताएँ लिखती आ रही हैं। काव्यक्षेत्रमें पदार्पण करने पर इनकी प्रतिभाका विकास हुआ और इस समय हिन्दी कवियत्रियोंमें इनका उच्च स्थान है।]

सुभसे मिल जाना इक बार ।
कहां-कहां मैं ढूंढ़ रही हूँ, कबसे रही पुकार ?
सुभसे मिल जाना इक बार ।
नव कुसमों की कुञ्ज-लता में
निशि-तारों की सुन्दरता में ।
कुसुमित दल की माधुरता में ।
कितना तुमको खोज चुकी हूँ, जिसका वार न पार ।
सुभसे मिल जाना इक बार ॥
सरिता की गति मतवाली में,
प्रिय वसन्त की हरियाली में,
बाल-प्रभाकर की लाली में,
निशानाथ की उजियारी में ।
आशावादी बनकर लोचन, अब तक रहे निहार ।
सुभसे मिल जाना इक बार ॥
अब देखूंगी उत्थानीं में,
देश-प्रेम के अभिमानों में,
अमर सुयश शुभ सम्मानों में ।
दर्शन होते ही तज दूंगी हिय बेदना अपार ।
सुभसे मिल जाना इक बार ॥

आंसू

[श्रीयुक्त मोहनलाल महतो (संवत् १९५९-वर्तमान)—इनकी कविताओंमें बड़े ही अच्छे भाव रहते हैं । इनका गद्य भी बड़ा कवित्वपूर्ण होता है । 'निर्मात्य', 'रेखा' आदि इनकी लिखी पुस्तकी बड़े आदरकी दृष्टिसे देखी जाती हैं ।]

हे मेरी आंखों के आंसू । हे इस जीवन के इतिहास !

छलक पड़ो मत, रहो अन्त तक, उमड़े इस दुखिया के पास ।

हे करुणा के चिह्न । अहो अभिलाषा की नीरव भाषा ।

मत छलको है टंगी हुई तुम पर ही मेरी शुभ आशा ।

हृदय-वेदना के परिचायक । निराधार के हे आधार ।

अन्तस्तल को धोनेवाले । हे मेरे समुक्त उदगार ।

हे मेरी असंख्य भूलों के मूर्तिमान सच्चे अनुताप ।

शीतल करते रहो सदा इस दग्ध हृदय का भीषण ताप ।

हे कितनी घटनाओं की स्मृति । हे मेरी आंखों की लाज !

क्या जाने क्या, तुम्हें छलकता, देख कहेंगा क्षुब्ध-समाज ?

कितने स्नेह, शोक के हो उपहार-तुल्य तुम मेरे पास ?

बात-बात में यों मत छलको, उठ जावेगा फिर विश्वास !!

बल न उठे जिससे सहसा वह बना रहे सुखदायक शान्त ।

रक्खा है प्रज्वलित प्रेमको, तुममें डुबा, अहो उद्भ्रान्त ॥

बार-बार इस नीरस जग को, अपना रूप न दिखलाओ ।

उषाकाल के तारागण से, इन नयनों में छिप जाओ । '

हे मेरे इस जीवन भर की कठिन कमाई ! छिपे रहो ।
 आवश्यकता नहीं तुम्हारी आर्द्र भाई ! छिपे रहो ।
 नहीं सफ़ाई देने की बारी आर्द्र है छिपे रहो ।
 नहीं झलक अब तक प्रियतम ने दिखलाई है छिपे रहो ॥

यों ही ठलक पड़ोगे तो मिट्टी में मिल जाओगे यार ।
 'लोचन जल रहू लोचन कोना,' यही विनय है बारम्बार ॥

मेरा नया बचपन

[श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान (संवत् १९६१ वि०-वर्त्तमान)— ये खंडवा-निवासी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान, बी० ए०, एल-एल० बी० की धर्मपत्नी हैं । हिन्दी की वर्त्तमान स्त्री-कवियोंमें इनका स्थान सबसे ऊँचा है । इनकी कविताओंकी भाषा विशुद्ध और परिमार्जित तथा भाव उच्चकोटिके होते हैं । इनकी कविताएँ जिनमें देशप्रेम भरा रहता है, पत्र-पत्रिकाओंमें बराबर निकला करती हैं और लोग उन्हें बड़े चावसे पढ़ते हैं ।]

बार बार आती है सुभको
 मधुर याद बचपन तेरी ।
 गया, ले गया तू जीवन की
 सब से मस्त खुशी मेरी ॥

चिन्ता-रहित खेलना-खाना
 वह फिरना निर्भय स्वच्छन्द ॥
 कैसे भूला जा सकता है
 बचपन का अतुलित आनन्द ?

ऊँच-नीच का ज्ञान नहीं था
 कुआँछत किसने जानी ?
 बनी हुई थी अहा ! भोपड़ी—
 और चीथड़ों में रानी ॥

किये दूध के कुत्ते मैंने
 चूस अंगूठा सुधा पिया ।
 किलकारी कल्लोल मचाकर
 सूना घर आबाद किया ॥

रोना और मचल जाना भी
 क्या आनन्द दिखाते थे ।
 बड़े-बड़े मोती-से आंसू
 जयमाला पहनाते थे ॥

मैं रोयी, मां काम छोड़कर
 आयी, सुभक्तो उठा लिया ।
 भाड़-पोंछ कर चूम-चूम
 गीले गालों को सुखा दिया ॥

दादा ने चन्दा दिखलाया,
 नेत्र-नीर द्रुत दमक उठे ।
 धुली हुई सुसकान देख कर
 सब के चेहरे चमक उठे ॥

वह सुख का साम्राज्य छोड़कर,
 मैं मतवाली बड़ी हुई ।
 लुटी हुई, कुछ ठगी हुई-सी
 दीड़ द्वार पर खड़ी हुई ॥

मैं बचपन को बुला रही थी
 बोल उठी बिटिया मेरी।
 नन्दन वन-सी फल उठी
 यह छोटी-सी कुटिया मेरी ॥

‘मां ओ’ कहकर बुला रही थी
 मिट्टी खाकर आयी थी।
 कुछ मुंह में कुछ लिये हाथ में
 मुझे खिलाने आयी थी।

पुलक रहे थे अङ्ग, टुंगों में
 कौतूहल था छलक रहा।
 मुंह पर थी आह्लाद-लालिमा
 विजय-गर्व था भलक रहा ॥

मैंने पूछा “यह क्या लायी ?”
 बोल उठी वह “मां, काओ।”
 हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से
 मैंने कहा—“तुम्हीं खाओ ॥”

पाया मैंने बचपन फिर से
 बचपन बेटी बन आया।
 उसकी मञ्जुल मूर्ति देखकर
 मुझ में नवजीवन आया ॥

मैं भी उसके साथ खेलती—
 खाती हूँ, तुतलाती हूँ।
 मिलकर उसके साथ स्वयं
 मैं भी बच्ची बन जाती हूँ ॥

जिसे खोजती थी वरसों से
 अब जाकर उसको पाया ।
 भाग गया था मुझे छोड़कर
 वह बचपन फिर से आया ॥

बालिका का परिचय

[श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान]

यह मेरी गोदी की शोभा
 सुख-सुहाग की है लाली ।
 शाही शान भिखारिन की है
 मनो - कामना - मतवाली ॥

दीप-शिखा है अन्धकार की
 घनी घटा की उजियाली ।
 ऊषा है यह कमल-भृङ्ग की
 है पतझड़ की हरियाली ॥

सुधाधार यह नीरस दिल की
 मस्ती मगन तपस्वी की ।
 जीवित ज्योति नष्ट नयनों की
 सच्ची लगन मनस्वी की ॥

बीते हुए बालपन की यह
 क्रीड़ा-पूर्ण वाटिका है ।
 वही मचलना, वही किलकना
 हंसती हुई नाटिका है ॥

मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद
 काबा-काशी यह मेरी ।
 पूजा-पाठ, ध्यान-जप-तप २
 घट-घट-वासी यह मेरी ॥

कृष्णचन्द्र की क्रीड़ाओं को
 अपने आंगन में देखो ।
 कौशल्या के मातृमोद को
 अपने ही मन में लेखो ॥

प्रभु ईसा की क्षमाशीलता
 नबी मुहम्मद का विश्वास ।
 जीव दया जिनवर गौतम की
 आओ देखो इसके पास ॥

परिचय पूछ रहे हो मुझसे,
 कैसे परिचय दूँ इसका ?
 वही जान सकता है इसको,
 माता का दिल है जिसको ॥

हिमालय

[बाबू रामधारी सिंह 'दिनकर', बी० ए० (संवत् १९६५-वर्तमान)—ये नवीन धाराके कवि हैं। इनकी भाषा भावके साथ चलनेवाली और मधुर होती है। इनकी रचनाओंमें 'नयी दिल्ली', 'हिमालय' आदि बड़ी सुन्दर हैं। इनकी कविताएँ उच्चकोटिकी होती हैं।]

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

साकार दिव्य गौरव विराट !

पौरुष के पुञ्जीभूत जाल !

मेरी जननी के हिम किरीट !

मेरे भारत के दिव्य भाल !

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्वन्ध, मुक्त,

युग-युग गर्वोन्नत, नित महान,

निस्सीम व्योम में तान रहे

युग से किस महिमा का वितान ?

कैसी अखण्ड यह चिर समाधि ?

यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?

तुम महाशून्य में खोज रहे

किस जटिल समस्याका निदान ?

उलभन का कैसा विषम जाल ?

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ मौन तपस्यालीन यती !
 पल भर तो कर ली दृगोन्मेष ;
 हो ज्वालाओं से दग्ध विकल
 है तड़प रहा पद पर स्वदेश ।
 सुख सिन्धु, पञ्चनद, ब्रह्मपुत्र,
 गङ्गा, यमुना की अमिय धार
 जिस पुण्य भूमि की ओर बहा
 अपनी विगलित करुणा उदार,
 जिसके द्वारों पर खड़े क्रान्त
 सीमापति । तुम ने की पुकार—
 “पद-दलित इसे करना पीछे
 पहले लो मेरा शिर उतार ।”
 उस पुण्यभूमि पर आज यती ।
 है, आन पड़ा संकट कराल,
 व्याकुल तव संतति तड़प रही ।

दारुण दुःख ज्वाला में विहाल ।

मेरे नगपति । मेरे विशाल

कितनी मणियां लुट गयीं, मिटा
 कितना वैभव अनुपम अशेष !
 तुम ध्यान मग्न हो रहे, इधर
 वीरान हुआ अपना स्वदेश ।
 कितनी द्रुपदा के खुले बाल ।
 कितनी कलियों का अन्त हुआ !

कह हृदय खोल चित्तौड़ ! यहाँ
 कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ ?
 पूछो सिकता कण से हिमपति !
 वह प्यारा राजस्थान कहां ?
 वन वन स्वतन्त्रता दीप लिए
 फिरने वाला बलवान कहां ?
 पूछो रघुपुर से राम कहां ?
 वृन्दा ! कहदे, घनश्याम कहां ?
 ओ मगध ! कहां मेरे अशोक ?
 वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहां ?
 पैरों पर ही है पड़ी हुई
 मिथिला भिखारिणी सुकुमारी ।
 पूछो किस रजनी में खई
 अपनी अनन्त निधियां सारौ ?
 रौ कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव—
 के वे मङ्गल-उपदेश कहां ?
 तिब्बत, इरान, जापान चीन तक
 गये हुए संदेश कहां ?
 वैशाली के भग्नावशेष से
 तुम पूछो लिखवी शान कहां ?
 ओ रौ उदास गंडकी ; बता
 विद्यापति कवि के गान कहां ?
 कर मौन त्याग पूछो विशाल
 बंगाल नवाबी ताज कहां ?

भारत का अन्तिम ज्योति-नयन

मेरा प्यारा शौराज कहाँ ?

कह दे यह तरुण देश तुमसे,

गूँजा यह कैसा ध्वंस राग ?

अम्बुधि अन्तस्तल बीच छिपी

यह सुला रही है कौन आग ?

प्राची के प्रांगण बीच देख

जल रही स्वर्ण युग-अग्नि ज्वाल !

कर सिंहनाद जागो तपसू !

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

लो अंगड़ाई हिल उठे धरा

कर दो विराट स्वर में निनाद !

तुम शैलराट् ! हुंकार भरो

फट जाय कुहा, भागे प्रमाद !

कह दो अजातरिपु से जावें

चाहे सुरपुर को है असीम !

दो फिरा हमें 'गाण्डीव', 'गदा'

लौटा दो अर्जुन, वीर भीम !

कह दो शंकर से आज करें

वह प्रलय नृत्य फिर एकबार ,

सारे भारत में गूँज उठे

"हर हर बम" का फिर महोत्सव

तुम मौन त्याग कर दो निनाद

है यती ! आज तप का न काल ।

युग-युग-शंख-ध्वनि जगा रही

तुम जागो, जागो, हे विशाल !

मेरी जननी के हिम किरीट

मेरे भारत के दिव्य भाल ।

नव युग-शंख ध्वनि जगा रही

जागो नगपति । जागो, विशाल !

